BOOK - POST

Printed Matter

गंगा-पुस्तकमाला का उन्तीसवाँ पुष्प

सुकवि-संकीर्तन

महावीरप्रसाद द्विवेदी

सुकवि-संकीर्तन

संपादक
श्रीदुलारेलाल भार्गव
(माधुरी-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का उन्तीसवाँ पुष्प

सुकवि-संकीर्तन

लेखक

महावीरप्रसाद द्विवेदी

कतिपयनिमेषवर्तिनि जन्मजरामरणविह्वले जगति ।
कल्पांतकोटिबंधुः स्फुरति कवीनां यशःप्रसरम् ॥

प्रकाशक

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
२६-३०, अमीनाबाद-पार्क
लखनऊ

प्रथमावृत्ति

सजिल्द १॥)] सं० १९८१ वि० [सादी १)

प्रकाशक

श्रीछोटेलाल भार्गव बी० एस्-सी०, एल्-एल्० बी०

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

लखनऊ

मुद्रक

श्रीकेसरीदास सेठ

नवलकिशोर-प्रेस

लखनऊ

वक्तव्य

महामान्यवर पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी-लिखित 'सुकवि-संकीर्तन'-पुस्तक के साथ अपने प्रेमी पाठकों की सेवा में उपस्थित होते हुए आज हम परम हर्ष का अनुभव कर रहे हैं। हिंदी-संसार को माननीय द्विवेदीजी का परिचय देने की आवश्यकता नहीं है। आधुनिक हिंदी-साहित्य के निर्माण में आपकी प्रभावशालिनी लेखनी ने बहुत बड़ा काम किया है। अकेले 'सरस्वती'-पत्रिका द्वारा हिंदी की जो स्तुत्य सेवा आपने की है, केवल उसी के कारण साहित्य के इतिहास में आपका नाम सदा स्वर्णाक्षरों में लिखा रहेगा। अस्तु। समय-समय पर आपने सुकवियों, कविता-प्रेमियों और कवि-कोविदों के आश्रयदाताओं के संबंध में जो परिचयात्मक लेख लिखे थे, 'सुकवि-संकीर्तन' में उन्हीं का संग्रह है। आपकी लेखनी की सभी विशेषताएँ इन लेखों में मौजूद हैं। एक ओर सुंदर, सरल, सरस और प्रौढ़ गद्य का चमत्कार है, तो दूसरी ओर लेखक का अपूर्व अध्यवसाय, स्पष्ट मानसिक विकास तथा बहुव्यापक ज्ञान प्रति पृष्ठ में प्रतिबिंबित है। इन मनोरंजक एवं शिक्षा-प्रद लेखों में जो बातें वर्णित हैं, वे कभी पुरानी नहीं हो सकतीं। इन्हें बार-बार पढ़ने पर भी जी नहीं ऊब सकता। हमारा विश्वास है कि अन्य रचनाओं के समान ही द्विवेदीजी के इस 'सुकवि-संकीर्तन' का भी हिंदी-संसार में यथेष्ट आदर होगा। तथास्तु।

१।७।२४ — दुलारेलाल भार्गव

निवेदन

जीवन-चरित्र कभी पुराने नहीं होते। जिस उद्देश से वे लिखे जाते हैं, बहुत समय बीत जाने पर भी, उसकी सिद्धि में अंतराय नहीं आता। विद्वानों और महात्माओं के चरित से कुछ-न-कुछ अच्छी शिक्षा अवश्य मिलती है; और समय ऐसी शिक्षा के प्रभाव को मलिन या कम नहीं कर सकता। फिर, संस्मरणीय महाजनों के जीवन-चरित लिखे जाने और प्रकाशित होने पर, यदि इधर-उधर बिखरे पड़े रहें, तो उन्हें प्राप्त करने में कठिनता भी होती है। यही सोचकर कवियों की यह चरित-मालिका यहाँ, इस रूप में, प्रकाशित की जाती है। इसमें जो चरित हैं, वे लिखे जाने के समय के क्रमानुसार रक्खे गए हैं।

"कवि"-शब्द एक विशेष अर्थ में रूढ़ हो गया है। पर कवि वही नहीं, जो कविता करे। संस्कृत-भाषा के कोशकारों ने इस शब्द को विद्वान्मात्र का वाचक माना है। यथा—

> विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः सन्सुधीः कोविदो बुधः;
> धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान् पंडितः कविः।

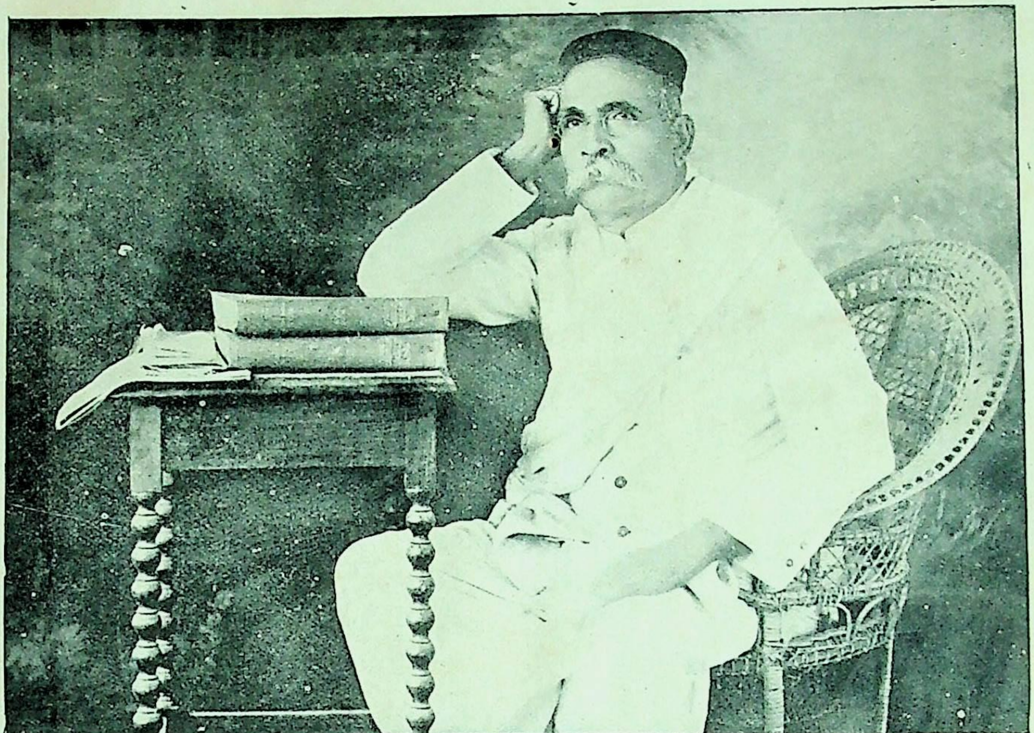
इसी से, इस पुस्तक में, कई ऐसे भी कोविदों के चरित्रों को स्थान दिया गया है, जिन्होंने कविता नहीं लिखी, या लिखी भी है तो बहुत कम।

इस चरित-संग्रह से यदि पाठकों का घड़ी-दो घड़ी मनोरंजन ही हो सका, तो भी इसके प्रकाशन का आयास सफल हो जायगा।

जुही कलाँ, कानपुर
१२ ऑक्टोबर, १९२२

महावीरप्रसाद द्विवेदी

चरित-सूची



पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

सुकवि-संकीर्तन

(१)

महामहोपाध्याय पंडित दुर्गाप्रसाद

हत-भाग्य भारतवर्ष पर विदेशी शत्रुओं के आक्रमण और आंतरिक राज्य-विप्लवों के कारण यद्यपि हमारी देव-वाणी संस्कृत के सहस्रशः अमूल्य ग्रंथ सर्वदा के लिये लोप हो गए, तथापि अनंत ग्रंथ-रत्न अब तक छिपे पड़े हैं। इसका पता लगाना दुर्घट है कि इन ग्रंथों में कितना ज्ञान-भांडार भरा पड़ा है। हमारे शासक राज-पुरुषों की विद्या की अभिरुचि प्रशंसनीय है। वे अनेक देशों की भाषाओं को केवल ज्ञान-संपादन की कामना ही से सीखते हैं, और उन भाषाओं में जो ग्रंथ अथवा जो विषय उपादेय होते हैं, उनका अनुवाद भी अँगरेज़ी में करके उस भाषा के जाननेवालों को लाभ पहुँचाते हैं। जब से सर विलियम जोंस-नामक पंडित ने कालिदास के 'शाकुंतल'-नाटक का अनुवाद अँगरेज़ी में किया, तब से पाश्चात्य देशों के विद्वानों को विदित हो गया कि संस्कृत-भाषा में अनेक अमूल्य ग्रंथ विद्यमान हैं। तब से वे लोग संस्कृत पढ़ने लगे, और उत्तमोत्तम ग्रंथों को खोज-खोजकर विलायत भी भेजने लगे। संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों की उत्तमता की प्रशंसा जर्मनी, फ़्रांस और इँगलैंड के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध विद्वानों के लेखों से अवगत करके गवर्नमेंट अब अपने संस्कृतज्ञ अधिकारियों से दुष्प्राप्य ग्रंथों का पता लगवाकर उनकी रक्षा करती है, और क्रमशः उनके छपाने

का भी प्रबंध करती है। गवर्नमेंट की इस कृपा के हम लोग हृदय से कृतज्ञ हैं। हमारे ही पूर्वजों के बनाए और हमारे ही यहाँ सैकड़ों वर्षों से पुराने बस्तों में बँधे पड़े ग्रंथों को कीड़ों का भक्ष्य होने से बचाने का सारा पुण्य प्रायः विदेशी विद्वानों ही को है। यह कृतघ्नता बहुत काल तक हम लोगों के पल्ले बँधी चली आई। परंतु संतोष की बात है कि विदेशियों की देखा-देखी इस देश के भी कोई-कोई विद्वान् कुछ दिनों से, हमारे बहते हुए आँसुओं को पोंछने की इच्छा से, इस ओर उद्यत हुए हैं, और प्राचीन पुस्तकों का पता लगाकर उनको नष्ट होने से बचाने का यत्न कर रहे हैं। इन विद्वानों में महामहोपाध्याय पंडित दुर्गाप्रसाद का पहला नंबर है।

राजपूताने में अलवर-राज्य के अंतर्गत हमजापुर-नामक एक गाँव है। वहीं पंडित दुर्गाप्रसाद के पूर्वज रहते थे। पंडितजी चौरासिया गौड़-ब्राह्मण थे। उनके पिता का नाम व्रजलाल था। पंडित व्रजलाल ज्योतिष-विद्या में बड़े प्रवीण थे। देश-पर्यटन करते-करते वह पंजाब पहुँचे, और वहाँ काँगड़ा-ज़िले की प्रसिद्ध देवी के स्थान में बहुत काल तक पूजन-पाठ करते रहे। उस समय काश्मीर के महाराज गुलाबसिंह लाहौर में, कारागार में, पड़े हुए अपने दिन काट रहे थे। पंडित व्रजलाल ने उनसे यह भविष्यद्वाणी कही कि आप अपनी इस दुरवस्था पर अधिक खेद न कीजिए; आप शीघ्र ही काश्मीर के राज्यासन पर फिर विराजमान होंगे। पंडितजी की उक्ति सत्य निकली, और महाराज गुलाबसिंह को फिर राज्य प्राप्त हुआ। जब वह काश्मीर पहुँचे, तब उन्होंने पंडितजी को अपना मुख्य ज्योतिषी नियत किया। इस प्रकार राज-ज्योतिषी नियत करके महाराज गुलाबसिंह ने उनका बड़ा सम्मान किया। तब से पंडित व्रजलाल वहीं सकुटुंब रहने लगे।

१८४६ ईसवी में, जिस समय उनके पिता जंबू में थे, पंडित

दुर्गाप्र ाद का जन्म हुआ। दुर्गाप्रसाद जब बालक ही थे, तभी से उनम बुद्धिमत्ता के चिह्न दिखलाई देने लगे थे। १८५० ईसवी में, महाराज गुलाबसिंह के मरने पर, उनके पुत्र महाराज रणवीरसिंह को काश्मीर का राज्य प्राप्त हुआ। उनके पुत्र महाराज प्रतापसिंह—अर्थात् काश्मीर के वर्तमान राजा—और पंडित दुर्गाप्रसाद दोनों समान वय के थे। महाराज प्रतापसिंह बाल्य-काल में सोमनाथ-नामक विद्वान् से विद्याभ्यास करते थे। उनको पंडित सोमनाथ से अकेले पढ़ते हुए देख महाराज रणवीरसिंह ने यह सोचा कि यदि दुर्गाप्रसाद और प्रतापसिंह साथ ही अभ्यास करें, तो अच्छा हो। अतएव उन्होंने पंडित दुर्गाप्रसाद को महाराज प्रतापसिंह का सहपाठी बनाया। इस व्यवस्था से महाराज प्रतापसिंह का अभ्यास पहले की अपेक्षा अधिक उत्तम रीति पर होने लगा। इस प्रकार राज-पुत्र के सहपाठी बनाए जाने से यह सिद्ध है कि पंडित दुर्गाप्रसाद बाल्यावस्था ही से बुद्धिमान् और सुशील थे। यदि उनमें ये गुण न होते, तो उनको काश्मीर के महाराज के प्यारे पुत्र प्रतापसिंह का साहचर्य कदापि न प्राप्त होता।

कुछ अधिक वयस्क होने पर दुर्गाप्रसाद ने पंडित देवकृष्ण से सांगोपांग ज्योतिष-शास्त्र पढ़ा। यह महाशय ज्योतिष-विद्या में बहुत प्रवीण थे। महाराज रणवीरसिंह ने इन्हें बनारस से बुलाया था। ज्योतिष-शास्त्र में पारदर्शी हो जाने पर प्रसिद्ध काश्मीरी पंडित साहबराम से उन्होंने साहित्य-शास्त्र पढ़ा। यह शास्त्र उनको और शास्त्रों की अपेक्षा अधिक रुचि-कर और आनंद-जनक जान पड़ा। अतएव इसका अवलोकन वह बहुत काल तक करते रहे।

१८७६ ईसवी में पंडित दुर्गाप्रसाद के पिता पंडित व्रजलालजी का शरीर-पात हुआ। यह कहना कि विपत्ति अकेली नहीं आती, बहुत ठीक जान पड़ता है। पिता का स्वर्ग-वास होने के अनंतर, कुछ

ही दिनों में, उनकी पत्नी का भी देहांत हो गया। यही नहीं, पत्नी की मृत्यु के अनंतर उनके छोटे भाई ने भी स्वर्ग का मार्ग लिया।*

इस प्रकार विपत्ति के ऊपर विपत्ति पड़ने पर उनका चित्त अत्यंत उद्विग्न हो उठा, और उन्होंने जंबू छोड़ अपनी जन्म-भूमि को जाने का निश्चय किया। इस निश्चय को कार्य-रूप में परिणत करने के पहले वह हिमालय के दर्शनीय स्थानों को देखने के लिये गए, और दूर-दूर तक घूमकर जंबू लौट आए। इस प्रकार कुछ दिनों तक बाहर पर्यटन करने से उनके चित्त को थोड़ी-बहुत शांति मिली; परंतु जंबू में अधिक समय तक रहने में असमर्थ होकर उन्होंने वहाँ से प्रस्थान कर दिया। मार्ग में अपने पिता के चिर-परिचित स्थल काँगड़ा होते हुए वह अपने घर, हमजापुर, आए। कुछ काल व्यतीत होने पर, अपने इष्ट-मित्रों और कुटुंबियों की इच्छानुसार, हमजापुर में, उन्होंने अपना दूसरा ब्याह किया, और वह सुख से रहने लगे।

पंडित दुर्गाप्रसाद जिस समय अपने गाँव, हमजापुर, में थे, उस समय उन्होंने जयपुर के महाराज रामसिंह की गुण-ग्राहकता-इत्यादि-संबंधिनी बहुत प्रशंसा सुनी। अतएव उनसे मिलने की इच्छा से वह जयपुर गए, और महाराज रामसिंह के आश्रित पंडित सरयूप्रसाद के यहाँ ठहरे। शीघ्र ही दोनों का पारस्परिक सौहार्द हो गया। दोनों विद्वान्; दोनों रसिक। फिर क्यों न सौहार्द हो? इसी समय, अर्थात् १८७७ ईसवी में, महाराज रामसिंह, उस बड़े दरबार में, निमंत्रित होकर, देहली

---

* "अथ कालकरालमन्त्रणाद्दहहामुष्य वधूर्दिवं ययौ;
अनुजोऽप्यगमत्ततः परं सहसास्या हि गवेषणाय किम् ?"
(प्रसादशतक)

गए, जो लार्ड लिटन के शासन-काल में हुआ था । उनके साथ पंडित सरयूप्रसाद भी थे । सरयूप्रसाद पंडित दुर्गाप्रसाद को भी अपने साथ ले गए थे । देहली से जब महाराज रामसिंह लौटे, तब मार्ग में दुर्गाप्रसाद से उनका परिचय हुआ । परिचय का यह फल हुआ कि महाराज को यह तत्क्षण विदित हो गया कि पंडित दुर्गाप्रसाद बड़े विद्वान्, बड़े रसिक और बड़े सुशील हैं। अतएव उन्होंने पंडितजी को अपना आश्रित बना लिया।

इस प्रकार राजाश्रय मिलने पर पंडित दुर्गाप्रसाद जयपुर में रहने लगे, और अपने पांडित्य से सबके मनों को मुग्ध करने लगे। उनको देशाटन से अधिक प्रीति थी। इसलिये महाराज रामसिंह की आज्ञा से एक बार वह फिर हिमालय की ओर गए। वहाँ गंगाद्वार, कुब्जकाम्र, हृषिकेश, देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, केदारनाथ और बदरीनाथ आदि स्थानों की यात्रा करके कुशल-पूर्वक वह जयपुर लौट आए।

पंडित दुर्गाप्रसाद को विद्या में अतिशय अभिरुचि थी। ग्रंथावलोकन से उनको इतनी प्रीति थी कि वह अपना एक क्षण भी व्यर्थ न जाने देते थे। साहित्य तो उनको प्राणों से भी अधिक प्रिय था। वह प्राचीन पुस्तकों की खोज में सदा लगे रहते थे, और ढूँढ़-ढूँढ़कर बड़े प्रयत्न से उनका संचय करते थे। जिस समय वह दुर्लभ प्राचीन ग्रंथों की खोज में लगे थे, उस समय बंबई के एलफ़िंस्टन-कॉलेज के प्रधान संस्कृताध्यापक, डॉक्टर पिटर्सन, जयपुर गए। उनको गवर्नमेंट ने प्राचीन संस्कृत-ग्रंथों की खोज लगाने के लिये नियत किया था। इसी निमित्त वह जयपुर गए थे। वह वहाँ जिस पुस्तकालय में, ग्रंथों की खोज में, पुस्तकावलोकन कर रहे थे, उसी में पंडित दुर्गाप्रसाद भी उसी काम में मग्न थे। वहीं डॉक्टर पिटर्सन की उनसे भेंट हुई। दोनों ही सम-व्यसनी और विद्वान् थे; अतएव शीघ्र ही परस्पर स्नेह हो गया। क्रमशः उनकी मैत्री बढ़ती

गई। यहाँ तक कि दोनों विद्वान् ग्रंथों का पता लगाने के लिये साथ ही देश-पर्यटन को निकले, और काश्मीर, पंजाब, बंगाल, राजपूताना, गुजरात, मध्य-प्रांत और तैलंग इत्यादि देशों में बहुत काल तक भ्रमण करके नाना प्रकार के काव्य, नाटक, भाण, चंपू, प्रहसन, अलंकार-शास्त्र इत्यादि ग्रंथ उन्होंने प्राप्त किए। इसके अतिरिक्त काश्मीर से वह स्वयं अनेक अलभ्य ग्रंथ अपने साथ पहल ही ले आए थे। जब वह बदरिकाश्रम की ओर देशाटन को गए थे, तब भी वहाँ से कितने ही हस्त-लिखित अनुपम ग्रंथ खोज लाए थे। जिन प्राचीन ग्रंथों का पता पंडितजी ने लगाया, उनमें कितने ही ग्रंथ १००० वर्ष से भी अधिक पुराने हैं; सात-आठ सौ वर्ष के पुराने ग्रंथ तो सैकड़ों ही हैं।

१८८४ ईसवी में, प्राचीन पुस्तकों के प्रकाशन के संबंध में, पंडित दुर्गाप्रसाद बंबई गए। वहाँ डॉक्टर पिटर्सन के स्थान पर उनसे और पंडित काशिनाथ-पांडुरंग परब से भेंट हुई। अनेक विषयों पर वार्तालाप होते-होते पुराने ग्रंथों के प्रकाशन के विषय में भी बात छिड़ी। फल यह हुआ कि पंडित दुर्गाप्रसाद और काशिनाथ निर्णयसागर-छापेख़ाने के अधिकारी जावजी-दादाजी के यहाँ गए, वहाँ तीनों व्यक्तियों की सलाह से 'काव्यमाला'-नामक मासिक पुस्तक निकालना निश्चित हुआ। यह १०० पृष्ठ की मासिक पुस्तक १७ वर्ष से बराबर निकल रही है। इसमें ऐसे अपूर्व प्राचीन ग्रंथ छपते हैं, जिनका देखना तो दूर रहा, नाम तक बहुतों ने न सुना था।

इस प्रकार 'काव्यमाला' के संपादन, ग्रंथों के संशोधन और उनके प्रकाशन में पंडित दुर्गाप्रसाद इधर जयपुर में निमग्न थे; उधर हमजापुर में उनकी दो लड़कियों पर सहसा महामारी ने धावा बोल दिया। यह दुर्वार्ता ज्यों ही उनको मिली, त्यों ही

उन्होंने वहाँ के लिये प्रस्थान किया; परंतु घर पहुँचने के पहले ही लड़कियाँ काल-कवलित हो चुकी थीं। पंडित दुर्गाप्रसाद के अल्प-वयस्क लड़के, केदारनाथ, को भी महामारी की बाधा हुई; परंतु जगदीश्वर की कृपा से वह बच गया। तदनंतर स्वयं दुर्गाप्रसाद पर उस घातक रोग ने आक्रमण किया, और १८ मई, १८९२ ईसवी को उनके प्राण लेकर छोड़ा।

पंडित दुर्गाप्रसाद की मृत्यु का समाचार शीघ्र ही दूर-दूर पहुँच गया। जिसने उनकी विद्वत्ता का कुछ भी परिचय पाया था, उसे भी वह अमंगल-समाचार सुनकर बहुत शोक हुआ। पंडितजी की कीर्ति योरप और अमेरिका तक पहुँची थी। अतः जर्मनी, अमेरिका और विलायत के सामयिक पत्रों और पुस्तकों में भी उनकी मृत्यु-वार्ता पर शोक-प्रदर्शक अनेक लेख प्रकाशित हुए। 'पायनियर', 'टाइम्स-ऑफ़-इंडिया', 'नेटिव ओपीनियन', 'इंदु-प्रकाश', 'ज्ञान-प्रकाश', 'केसरी', 'सुबोध-पत्रिका', 'गुजराती' और 'राजस्थान-समाचार' आदि इस देश के पत्रों ने उस समय पंडितजी के सद्गुणों का स्मरण करके अनेक विलाप-वेष्टित वचन कहे। दुर्गाप्रसादजी की मृत्यु का संवाद सुनकर डॉक्टर पिटर्सन ने, ४ जून, १८९२ ईसवी को, जो शोक-सूचक लेख 'टाइम्स-ऑफ़-इंडिया'-नामक अँगरेज़ी के दैनिक पत्र में प्रकाशित किया, और जिसे हम नीचे * पूरा उद्धृत करते हैं, उसका आशय हम यहाँ पर दिए विना नहीं रह सकते—

"कल ही मुझे एक अतीव शोक-जनक समाचार मिला। कृपा करके आप उसे अपने पत्र में प्रकाशित कर दीजिए; क्योंकि उसे

---

*I received only yesterday news of a meloncholy event which I ask your leave to make know in this way to the

सुनकर जितना दुःख मुझे हुआ है, उतना ही दूसरे विद्वानों और मित्रों को भी होगा। जयपुर के जिन पंडित दुर्गाप्रसाद को गवर्नमेंट ने, उनकी योग्यता का पुरस्कार-रूप, महामहोपाध्याय की पदवी, देना चाहा था, उनका शरीर-पात हो गया। महामारी से उनकी मृत्यु हुई। मुझे अभी उस दिन उनका पत्र मिला था। वह पत्र जिस समय मुझे मिला, उसके कुछ ही पीछे शायद शरीरांतक आज्ञा ईश्वर के यहाँ से उनके पास पहुँची हो। वह पत्र उन्होंने बड़े उत्साह से लिखा था। उसमें काम-काज-विषयक अनेक सूचनाएँ थीं।

वह मेरे परम मित्र थे। उनके न रहने से जो हानि मुझे हुई है, उस पर लिखने बैठने का यह समय नहीं। परंतु मुझे यह विश्वास है कि भारतवर्ष, योरप और अमेरिका के जिन विद्वानों को यह विदित है कि संस्कृत के पुनरुज्जीवन के लिये दुर्गाप्रसाद ने

---

wide circle of scholars and friends for whom it will have the same sad interest that it has for myself. Pandit Durga Prasad of Jeypore, on whom the Government of India sought, this year, to bestow a well-merited meed of honor, died of cholera, in his native village, in the Ulwar State on the 18th of May last. He had been summoned from Jeypore by the news of an outbreak of the disease in his house; and it was his cruel fate to witness the death of his two daughters, before he was himself attacked. They and he have fallen victims to the epidemic which the Hardev on pilgrims are spreading through the land. I had a letter from him just before the fatal summons must have reached him, full of spirit, and full, as ever, of plans for mutual work.

This is not the place in which to say much of the loss to myself of such a friend as he was. But I know well that scholar, in India in Europe, and in America, who have noted what Durga Prasad has done for the revival of Sanskrit

क्या-क्या किया है, उनको पंडितजी की अकाल-मृत्यु का संवाद सुनकर मर्म-भेदी दुःख होगा। वह सच्चे विद्वान् थे ; विद्या ही उनका सर्वस्व था। उनके साथ-साथ 'सुभाषितावली'-नामक संस्कृत-ग्रंथ का संपादन करते समय मुझे पहले-पहल उनकी विस्तृत विद्या, उनकी विशाल गुण-दोष-विवेचन शक्ति, और अपने देश के साहित्य पर उनकी निष्कपट भक्ति का परिचय मिला था। उनकी काव्यमाला, जिसमें अनेक ग्रंथ प्रकाशित करके उन्होंने उनको लुप्त होने से बचाया, उनकी विद्वत्ता की चिरकाल स्मारक रहेगी। जैसा मैं उनसे परिचित था, और जैसा मैं उन्हें प्यार करता था, वैसा ही जो-जो करते रहे हैं, वे अच्छी तरह जान सकेंगे कि इस काल के कराल दंडाघात ने, पंडित दुर्गाप्रसाद के साथ, कितनी महत्ता और कितनी विशाल विद्वत्ता को इस संसार से खींच लिया है !"

यह एक विदेशी संस्कृतज्ञ की शोकोक्ति है। इसी से इस बात का अनुमान करना चाहिए कि पंडित दुर्गाप्रसाद के इष्ट-मित्रों और उनके कार्य-कलाप से परिचय पानेवाले इस देश के विद्वानों को

---

studies in this land will bear with keen sorrow his untimely-death. He was a true scholar, for whom learning was every thing. While working with him at our joint edition of one of the Sanskrit Anthologies I first learned to admire his wide knowledge his profondly critical spirit, his disinterested devotion to the literature of his country. His Kavyamala, a monthly Journal, in which, he has, with the assistance of public-spirited publisher, alas, also ! lately deceased, rescued so much of that literature, from the ablivion which was covering it, will be the enduring memorial of the scholar. Those who knew him and loved him as I did, know, too, how much of the true nobility as well as of sound learning has been, by this sharp stroke, taken out of the world.

उनकी मृत्यु से कितना शोक हुआ होगा । वह इस देश के एक रत्न थे । उनकी विद्वत्ता अपार थी । सुनते हैं, पंडितजी ने अपनी पत्नी को भी संस्कृत में प्रवीण कर दिया था । हमारे एक मित्र ने उनकी पत्नी को अपने कानों संस्कृत बोलते सुना है । दुर्गाप्रसादजी जैसे विद्वान् थे, ईश्वर करे, उनका पुत्र, केदारनाथ, भी वैसा ही विद्वान् निकले । महाराज जयपुर ने केदारनाथ को अपने आश्रय में रक्खा है ।

वल्लभदेव-नामक एक प्राचीन पंडित ने अनेक अच्छे-अच्छे श्लोकों का संग्रह किया है, और उनका नाम सुभाषितावली रक्खा है । यह एक अद्भुत और परमोपयोगी ग्रंथ है । डॉक्टर पिटर्सन और दुर्गाप्रसाद ने मिलकर इसका संपादन किया, और संशोधन-पूर्वक छपाया है । "बांबे संस्कृत-सीरीज़"-नामक बंबई की सरकारी पुस्तक-मालिका में गवर्नमेंट के व्यय से यह प्रकाशित हुआ है । पंडितजी की योग्यता और विद्वत्ता का पूर्ण परिचय पाकर बंबई की गवर्नमेंट ने काश्मीर के 'राजतरंगिणी'-नामक इतिहास का भी संशोधन करके उसे प्रकाशित करने के लिये उनसे कहा था । इस बृहत् इतिहास के दो भाग—अर्थात् प्रथम से अष्टम तरंग तक—पंडितजी ने अकेले ही, बहुत अच्छी तरह, संपादित किए । इतने ही में निष्ठुर मृत्यु ने उन्हें इस लोक से उठा लिया ; अतएव 'राजतरंगिणी'-संबंधी शेष काम डॉक्टर पिटर्सन को ही करना पड़ा । दुर्गाप्रसादजी ने 'कथासरित्सागर' और 'शिशुपालवध' इत्यादि और भी कई ग्रंथों का संपादन किया, और निर्णयसागर-प्रेस में छपाया है । जिस पुस्तक को वह प्रकाशित करते थे, उस पुस्तक के कर्ता कवि का समय, उसकी जन्म-भूमि, उसके बनाए हुए अन्य ग्रंथों इत्यादि का विवेचन उपोद्घात में बड़ी ही योग्यता से वह करते थे । उनके विवेचन से उनका पांडित्य

और विस्तृत ग्रंथावलोकन, स्थल-स्थल पर, सूचित होता है। उनकी धारणा-शक्ति भी अपूर्व थी; कवियों का समय-निरूपण करने में वह अनेक अश्रुत-पूर्व ग्रंथों के श्लोकों का प्रमाण देते थे।

पंडित दुर्गाप्रसाद के कार्यों में 'काव्यमाला' उनकी कीर्ति की सबसे ऊँची पताका है। इस विद्वत्प्रिय मासिक पुस्तक को अब लाहौर के ओरियंटल-कॉलेज के मुख्याध्यापक, महामहोपाध्याय पंडित शिवदत्त और बंबई के पंडित काशिनाथ-पांडुरंग परब संपादित करते हैं। इस माला में जो ग्रंथ छपते हैं, वे अलग भी पुस्तकाकार मिलते हैं। बड़े-बड़े ग्रंथ पृथक्-पृथक् रहते हैं, और छोटे-छोटे कई एक, एक ही साथ, एक-एक गुच्छक (भाग) में प्रकाशित होते हैं। ऐसे छोटे-छोटे मनोहर प्रबंध आज तक सौ-सौ डेढ़-डेढ़ सौ पृष्ठों के १४ गुच्छकों में निकल चुक हैं। इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े कोई ८० ग्रंथ अलग ही पुस्तकाकार प्रकाशित हुए हैं। इनमें कोई-कोई ग्रंथ बड़े ही विचित्र हैं। यदि पंडित दुर्गाप्रसाद इन अलभ्य ग्रंथों को, अखंड परिश्रम करके, न एकत्र करते, और एकत्र करके इनके प्रकाशन का प्रबंध न करते, तो ये सब अमूल्य रत्न कुछ काल में नष्ट हो गए होते। पंडितजी के अभूत-पूर्व कार्य का कुछ परिचय देने के लिये आज तक काव्यमाला में प्रकाशित हुए मुख्य-मुख्य ग्रंथों के नाम हम यहाँ पर देना उचित समझते हैं—

काव्य

आर्या-सप्तशती	हर-विजय (५० सर्ग)
श्रीकंठ-चरित	स्तुति-कुसुमांजलि
धर्मशर्माभ्युदय	दशावतार-चरित
समयमातृका	चंद्रप्रभ-चरित
गाथा-सप्तशती	विष्णु-भक्ति-कल्पलता

सहृदयानंद	युधिष्ठिर-विजय
बाल-भारत	हर-चरित-चिंतामणि
सेतुबंध-महाकाव्य	राघव-पांडवीय
द्विसंधान-महाकाव्य	भारतमंजरी
पतंजलिचरित	हरिसौभाग्य
राघव-नैषधीय	रावणार्जुनीय

नाटक

कर्पूरमंजरी	दूतांगद
अनर्घराघव	भर्तृहरि-निर्वेद
कंस-वध	विद्या-परिणय
कर्णसुंदरी	रुक्मिणी-परिणय
जीवानंद	वृषभानुजा-नाटिका
अद्भुत-दर्पण	अमृतोदय

चंपू, भाण और प्रहसन

पारिजातहरण-चंपू	श्रीनिवासविलास-चंपू
रससदन-भाण	शृंगारतिलक-भाण
मुकुंदानंद-भाण	मंदारमरंद-चंपू
उन्मत्तराघव-प्रेक्षाणक	शृंगारभूषण-भाण
लटकमेलक-प्रहसन	

अलंकार और साहित्य-शास्त्र

काव्यालंकार	चित्र-मीमांसा
रसगंगाधर	काव्यानुशासन
काव्यालंकार-सूत्र	वाग्भटालंकार
काव्य-प्रदीप	अलंकार-शेखर
ध्वन्यालोक	साहित्य-कौमुदी
अलंकार-सर्वस्व	अलंकार-कौस्तुभ

फुटकर

प्राचीन लेखमाला	नाट्य-शास्त्र
प्राकृत पिंगल-सूत्र	वाणी-भूषण

कहाँ छः काव्यों के आगे सातवें काव्य-ग्रंथ का नाम तक इस प्रांत के पंडितों को पहले न विदित था, कहाँ अब, पंडित दुर्गाप्रसादजी की कृपा से, क्षेमेंद्र और रत्नाकर इत्यादि काश्मीर के महाकवियों के अनेक अद्भुत-अद्भुत काव्य सहज ही मिलने लगे। धन्य पंडितजी की विद्याभिरुचि, और धन्य पुस्तकों को एकत्र करने का अनुराग! उन्होंने वात्स्यायन-मुनि-प्रणीत परम प्राचीन और प्रायः अप्राप्य काम-सूत्रों को भी, जयमंगल-नामक टीका के साथ, छपाकर प्रकाशित कर दिया है। उनकी रसिकता और उनकी श्रम-सहिष्णुता की जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। वह इतने ग्रंथ एकत्र कर गए हैं कि अनेक वर्ष पर्यंत काव्यमाला में छपते रहने पर भी वे निःशेष न होंगे। पंडित दुर्गाप्रसाद यद्यपि इतने रसिक और काव्य-लोलुप थे, तथापि उनकी रचित कविता हमारे देखने में नहीं आई। प्राचीन महाकवियों के पीयूष-निंदित काव्य-रस का आस्वादन करते रहने के कारण शायद उनको अपने मुख से कुछ कहने की इच्छा ही नहीं हुई। उनकी काव्यमाला की प्रत्येक संख्या के वेष्टन-पत्र (टाइटिल-पेज) पर एक श्लोक छपा रहता है। वह शायद उन्हीं की प्रतिभा का नमूना है। वह श्लोक यह है—

"साधुर्जनः पश्यतु काव्यमाला-
मित्यर्थयामो जगदीश तुभ्यम्;
कदापि मास्यां पततु प्रचण्डा
शनैश्चरस्येव खलस्य दृष्टिः।"

अर्थात् हे जगदीश्वर, आपसे हमारी इतनी ही प्रार्थना है

कि काव्यमाला को सज्जन ही देखें; शनैश्चर की दृष्टि के समान दुर्जनों की प्रचंड दृष्टि कदापि इस पर न पड़े। हम भी पंडित-जी के साथ 'एवमस्तु' कहते हैं। इस श्लोक में जो उपमा है, वह बड़ी ही मनोहर है, और दुर्गाप्रसादजी के ज्योतिष-ज्ञान की भी परिचायक है। शनैश्चर का नाम ही बुरा है; उसकी दृष्टि तो और भी भयोत्पादक है। उसके पड़ने से काम बिगड़े बिना नहीं रहता। उपमा की उत्कृष्टता के अतिरिक्त पद्य बहुत ही सरस और प्रसाद-गुण-परिपूर्ण है।

पंडित दुर्गाप्रसाद पंजाब के विश्वविद्यालय में संस्कृत के परीक्षक होते थे। 'संस्कृत-प्रावीण्य-वर्द्धिनी'-नामक एक सभा भी उन्होंने जयपुर में स्थापित की थी। उनकी दिगंत-व्यापिनी कीर्ति को सुनकर आस्ट्रिया-देश के प्रधान नगर, विएना, के संस्कृतज्ञ विद्वानों की सभा ने उनको वहाँ जाने के लिये आमंत्रण दिया था; परंतु जाति-बंधन के अवरोध ने उन्हें वहाँ न जाने दिया। उनके प्रचंड पांडित्य और उनकी अविश्रांत देश-सेवा से प्रसन्न होकर गवर्नमेंट ने उनको 'महामहोपाध्याय' की पदवी दी थी; परंतु यथोचित रीति पर उसके दिए जाने के पहले ही उन्होंने इस लोक से प्रयाण कर दिया। ईश्वर का आदेश!

दुर्गाप्रसादजी अपने समय का एक मिनट भी व्यर्थ न जाने देते थे। उनकी दिन-चर्या नियमित थी; उसी के अनुसार वह अपने काम यथासमय करते थे। प्रातःकाल ४ बजे वे उठते थे, और ६ बजे तक स्नानादिक नित्य-कृत्यों से निश्चिंत हो जाते थे। ६ से ९ बजे तक वह काव्यमाला का काम और ९ से ३ बजे तक भोजन, विश्राम और गृहस्थाश्रम के काम-काज करते थे। ३ से ५ बजे तक राज-दरबार; तदनंतर, ग्रंथावलोकन और लोगों से तथा अपने मित्रों से भेंट। ९ बजे भोजनोत्तर शयन। इस

क्रम म उन्होंने कभी व्यतिक्रम नहीं होने दिया । इसलिये वह कभी बीमार भी नहीं हुए ।

पंडित दुर्गाप्रसाद का चरित सर्वथा अनुकरण करने योग्य है। उनकी नियमित दिन-चर्या, उनका विद्या-प्रेम, संस्कृत के ग्रंथों को प्रकाशित करके लोकोपकार करने की उनकी उत्कट इच्छा, सभी गुण अनुकरणीय हैं । बाल्यावस्था में अपनी सुशीलता और अपने सौम्य स्वभाव के कारण वह राजपुत्र के सहपाठी हुए, और प्रौढ़ावस्था में अपनी विद्या के बल से बड़े-बड़े धुरंधर विद्वानों के मित्र हुए । दुर्गाप्रसादजी के चरित से यह स्पष्ट है कि एक सामान्य मनुष्य भी सदाचरण और सद्विद्या के बल से, सर्व-साधारण की तो कोई बात ही नहीं, बड़े-बड़े राजों-महाराजों का भी सम्मान प्राप्त कर सकता है, और अपनी कीर्ति-कौमुदी स देश-देशांतरों को धवलित भी कर सकता है ।

[मई, १९०३

---

(२)

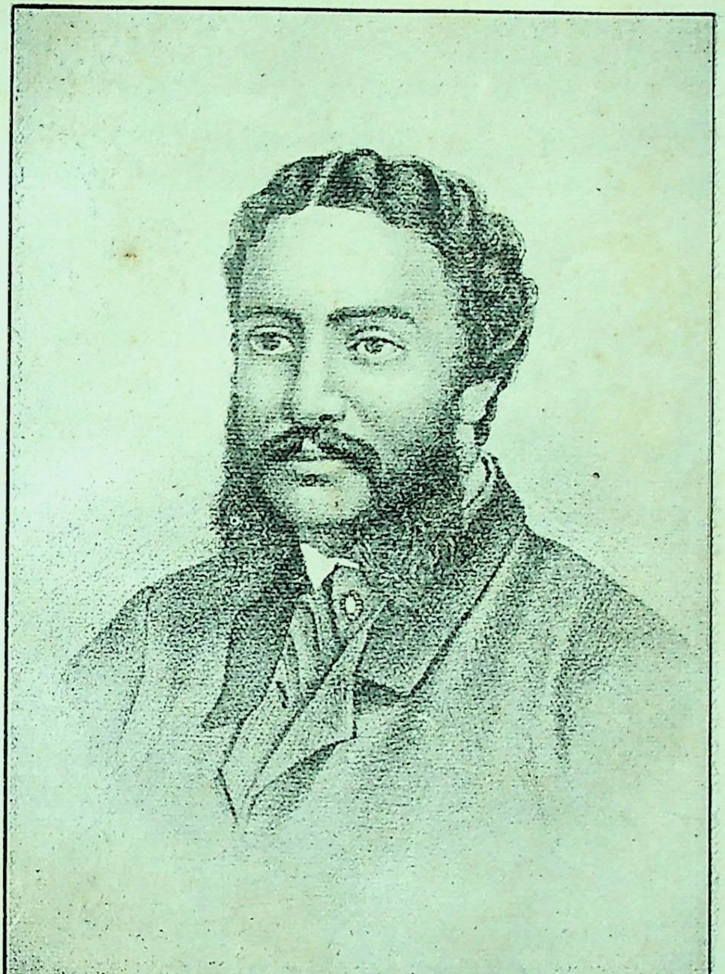
वंग-कवि माइकेल मधुसूदनदत्त

"अभ्रङ्कषोन्मिषितकीर्तिसितातपत्रः
स्तुत्यः स एव कविमण्डलचक्रवर्ती ;
यस्येच्छयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते
द्राग्वाच्यवाचकमयः पृतनानिवेशः ।"
(श्रीकंठ-चरित)

वंग-भाषा के विख्यात ग्रंथकार वंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय ने लिखा है—

"कवि की कविता को जानने से लाभ है ; परंतु कविता की अपेक्षा कवि को जानने से और भी अधिक लाभ है, इसमें संदेह नहीं । कविता कवि की कीर्ति है । वह हमारे हाथ ही में है, उसे पढ़ने ही से उसका मर्म विदित हो जाता है । परंतु यह जानना आवश्यक है कि जो इस कीर्ति को छोड़ गया है, उसने इसे किन गुणों के द्वारा, किस प्रकार, छोड़ा है ।"

जिस देश में किसी सुकवि का जन्म होता है, उस देश का सौभाग्य है । जिस देश में किसी सुकवि को यश प्राप्त होता है, उस देश का और भी अधिक सौभाग्य है । जिनका शरीर अब नहीं है, यश ही उनका पुरस्कार है । जिनका शरीर बना है— जो जीवित हैं—उनको यश कहाँ ? प्रायः देखा जाता है कि जो यश के पात्र होते हैं, उनको जीते-जी यश नहीं मिलता । जो यश के पात्र नहीं होते, वे ही जीते-जी यशस्वी होते हैं । साक्रेटिस, कोपर्निकस, गैलीलिओ, दांते इत्यादि को जीवित दशा में कितना



कविवर माइकेल मधुसूदनदत्त

क्लेश उठाना पड़ा ! वह यशस्वी हुए ; परंतु कब ? मरने के अनंतर !"

वंकिम बाबू की इस उक्ति से हम सहमत हैं । मनुष्य के गुणों का विकास प्रायः मरने के अनंतर ही होता है । जीवित दशा में ईर्षा, द्वेष और मत्सर आदि के कारण मनुष्य औरों के गुण बहुधा नहीं प्रकाशित होने देते । परंतु मरने के अनंतर राग, द्वेष अथवा मत्सर करना वे छोड़ देते हैं । इसलिये मरणोत्तर ही प्रायः मनुष्यों की कीर्ति फैलती है । यदि जीवित ही कोई यशस्वी हो तो उसे विशेष भाग्यशाली समझना चाहिए । जीवित दशा में किसी के गुणों पर लुब्ध होकर उसका सम्मान जिस देश में होता है उस देश की गिनती उदार और उन्नत देशों में की जाती है । आनंद का विषय है कि मधुसूदनदत्त के संबंध में ये दोनों बातें पाई जाती हैं । उनकी जीवित दशा ही में उनके देशवासियों ने उनका बहुत कुछ आदर करके अपनी गुण-ग्राहकता दिखाई । और, मरने पर तो उनका जितना आदर हुआ उतना आज तक और किसी वंग-कवि का नहीं हुआ ।

मधुसूदन बाल्यावस्था ही से कविता करने लगे थे । परंतु, उस समय, वह अँगरेज़ी में कविता करते थे ; बँगला में नहीं । वह लड़कपन ही से विलास-प्रिय और श्रृंगारिक काव्यों के प्रेमी थे । अँगरेज़ी-कवि बाइरन की कविता उनको बहुत पसंद थी । उसका जीवन-चरित भी आप बड़े प्रेम से पढ़ते थे । उनका स्वभाव

नोट—सोलहवें पृष्ठ पर जो श्लोक है उसका अर्थ वहाँ ग़लती से नहीं दिया जा सका। यहाँ दिया जाता है। अर्थ यह है कि आकाश-गामिनी कीर्ति को अपने ऊपर छत्र के समान धारण करनेवाला वही चक्रवर्ती कवि स्तुति के योग्य है जिसकी इच्छा-मात्र ही से शब्द और अर्थ-रूपी सेना आप-ही-आप तत्काल उसके सम्मुख उपस्थित हो जाती है ।

भी बाइरन ही के समान उच्छृंखल था। स्वभाव में यद्यपि वह बाइरन से समता रखते थे, तथापि बँगला-काव्य में उन्होंने मिल्टन को आदर्श माना है। अँगरेज़ लोग मिल्टन को जिस दृष्टि से देखते हैं, बंगाली भी मधुसूदन को उसी दृष्टि से देखते हैं। मधुसूदन के 'मेघनाद-वध' की तुलना मिल्टन के 'पाराडाइज़ लास्ट' से की जाती है। मधुसूदन के समय तक बँगला में अमित्राक्षर-छंद नहीं लिखे जाते थे। हमारे दोहे, चौपाई, छप्पय और घनाक्षरी आदि के समान उसमें विशेष करके पयार, त्रिपदी और चतुष्पदी आदिक छंदःप्रयोग ही किए जाते थे। लोगों का यह अनुमान था कि बँगला में अमित्राक्षर-छंद हो ही नहीं सकते। इस बात को माइकेल ने निर्मूल सिद्ध कर दिया। वह कहते थे कि बँगला-भाषा संस्कृत से उत्पन्न हुई है; अतएव संस्कृत में यदि इतने सरस और हृदय-ग्राही अमित्राक्षर-छंद लिखे जाते हैं तो बँगला में भी वे अवश्य लिखे जा सकते हैं। इसको उन्होंने 'मेघनाद-वध' लिखकर प्रमाणित कर दिया। इस प्रकार के छंदों में इस अपूर्व वीर-रसात्मक काव्य को लिखकर मधुसूदन ने बंग-भाषा के काव्य-जगत् में एक नए युग का आविर्भाव कर दिया। तब से लोग उनका अनुकरण करने लगे और आज तक बँगला में अनेक अमित्राक्षर-छंदोबद्ध काव्य हो गए। जब इस प्रकार के छंद बँगला में लिखे जा सकते हैं और बड़ी योग्यता से लिखे जा सकते हैं तब हिंदी में भी उनका लिखा जाना संभव है। लिखनेवाला अच्छा और योग्य होना चाहिए। अमित्राक्षर-छंद लिखने में किसी विशेष नियम के पालन की आवश्यकता नहीं। इन छंदों में भी यति, अर्थात् विराम, के अनुसार ही पद-विन्यास होता है। वर्ण-स्थान और मात्राएँ भी नियत होती हैं। भेद केवल इतना ही होता है कि पादांत में अनुप्रास नहीं आता। बँगला में

पयार आदि अमित्राक्षर-छंदों के अंत में शब्दों का जैसा मेल होता है वैसा अमित्राक्षर-छंदों में नहीं होता। एक बात और है। मित्राक्षर-छंदों में जब जिस छंद का आरंभ होता है तब उसमें अंत तक सम-संख्यक मात्राओं के अनुसार सब कहीं एक ही-सा विराम रहता है। परंतु मधुसूदन के अमित्राक्षर-छंदों में यह बात नहीं है। वहाँ सबके यति-विषयक नियम यथेच्छ स्थान में रक्खे गए हैं, यति के स्थानों की एकता नहीं है। जैसे किसी पंक्ति में पयार-छंद के अनुसार आठ और चौदह मात्राओं के अनंतर यति है, और किसी में त्रिपदी-छंद के अनुसार, छः और आठ मात्राओं के अनंतर।

मधुसूदनदत्त की मृत्यु के २० वर्ष पीछे बाबू योगेंद्रनाथ वसु बी० ए० ने उनका जीवन-चरित बँगला में लिखकर १८९४ ईसवी में प्रकाशित किया। उस समय तक माइकेल का इतना नाम हो गया था और उनके ग्रंथों का इतना अधिक आदर होने लगा था कि एक ही वर्ष में इस जीवन-चरित की १००० प्रतियाँ बिक गईं। अतएव दूसरी आवृत्ति निकालनी पड़ी। यह आवृत्ति १८९५ ईसवी में निकली। इस समय यही हमारे पास है। शायद शीघ्र ही एक और आवृत्ति निकलनेवाली है। यह कोई ५०० पृष्ठ की पुस्तक है। इस पुस्तक की बिक्री का विचार करके बँगला-भाषा के पढ़नेवालों का विद्यानुराग और उनकी मधुसूदन पर प्रीति का अनुमान करना चाहिए। इसी पुस्तक की सहायता से हम मधुसूदन का संक्षिप्त जीवन-चरित लिखना आरंभ करते हैं।

बंगाल में यशोहर (जेसोर) नाम का एक ज़िला है। इस ज़िले के अंतर्गत कपोताक्ष-नदी के किनारे सागरदाँड़ी-नामक एक गाँव है। यही गाँव मधुसूदन की जन्म-भूमि है। इनके पिता का नाम राजनारायण दत्त था। वह जाति के कायस्थ थे। राजनारायण दत्त

कलकत्ते में एक प्रसिद्ध वकील थे। वह धन और जन इत्यादि सब वस्तुओं से संपन्न थे। उन्होंने चार विवाह किए थे। अपनी पहली पत्नी के जीते ही उन्होंने तीन बार और विवाह किया था। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं। बहु-विवाह की रीति बंगाल में प्राचीन समय से चली आती है। अब तक कुलीन गृहस्थ दो-दो चार-चार विवाह करते हैं। इस कुरीति के विषय में पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने एक बड़ी-सी पुस्तक लिख डाली है। मधुसूदन राजनारायण दत्त की पहली स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुए। उनकी माता का नाम जाह्नवी दासी था। वह खुलना-ज़िले के कटिपाड़ा-निवासी बाबू गौरीचरण घोष की कन्या थीं। यह घोष-घराना भी दत्त-घराने के समान संपन्न और सम्माननीय था। मधुसूदन की माता जाह्नवी पढ़ी-लिखी थीं। उनके गर्भ से १८२४ ईसवी की २५वीं जनवरी को मधुसूदन ने जन्म लिया।

मधुसूदन के पिता राजनारायण दत्त चार भाई थे। राजनारायण सब भाइयों में छोटे थे। मधुसूदन के पीछे दो भाई और हुए; परंतु वे पाँच वर्ष के भीतर ही मर गए। उनके और कोई भाई-बहन नहीं हुए। जिस समय मधुसूदन का जन्म हुआ उस समय दत्त-वंश विशेष सौभाग्यशाली था। चार भाइयों में सबसे छोटे राजनारायण के मधुसूदन ही एक पुत्र थे। अतएव बड़े ही लाड़-प्यार से इनका पालन होता था। जो कुछ यह कहते थे वही होता था और जो कुछ यह माँगते थे वही मिलता था। यदि यह कोई बुरा काम भी करते या करना चाहते थे तो भी कोई कुछ न कहता था। मधुसूदन की उच्छृंखलता का आरंभ यहीं से—उनकी शैशवावस्था ही से—हुआ।

मधुसूदन सात वर्ष के थे जब उनके पिता ने कलकत्ते की सदर-दीवानी अदालत में वकालत करना आरंभ किया। मधुसूदन ने

सहृदयता और बुद्धिमत्ता आदि गुण अपने पिता की प्रकृति से और सरलता, उदारता, प्रेम-परायणता आदि अपनी माता की प्रकृति से सीखे। उनके माता-पिता बड़े दानशील थे। दुःखितों और दरिद्रों के लिये वह सदा मुक्त-हस्त रहते थे। यह गुण उनसे उनके पुत्र ने भी सीखा। मधुसूदन जब किसी को कुछ देते थे तब गिनकर न देते थे। हाथ में जितने रुपए-पैसे आ जाते उतने सब, विना गिने, वह दे डालते थे।

राजनारायण बाबू मधुसूदन को अपने साथ कलकत्ते नहीं ले गए। उन्हें वह घर ही पर छोड़ गए। वहाँ, अर्थात् सागरदाँड़ी की ग्राम-पाठशाला में, मधुसूदन बड़े प्रेम से पढ़ने लगे। धनियों के लड़के प्रायः पढ़ने-लिखने में मन नहीं लगाते। परंतु मधुसूदन में यह बात न थी। वह बड़े परिश्रम, बड़े प्रेम और बड़े मनोयोग से विद्याध्ययन करते थे। उनकी माता ने विवाह के अनंतर पढ़ना-लिखना सीखा था। वह बँगला की रामायण और महाभारत बड़े प्रेम से पढ़ा करती और अच्छे-अच्छे स्थलों को कंठ कर लेती थीं। मधुसूदन जब बँगला पढ़ लेने लगे तब वह उनसे भी इन पुस्तकों को पढ़वाती और उत्तम-उत्तम स्थलों की कविता को कंठ करवाती थीं। मधुसूदन की काव्य-प्रियता का यहीं से सूत्रपात हुआ समझना चाहिए। उनमें काव्य की वासना को उत्तेजित करने का मूल-कारण उनकी माता ही हैं। क्रमशः मधुसूदन का प्रेम इन पुस्तकों पर बढ़ने लगा। वह यहाँ तक बढ़ा कि जब वह संस्कृत, फ़ारसी, लैटिन, ग्रीक, अँगरेज़ी, फ़्रेंच, जर्मन और इटालियन आदि भाषाओं में बहुत कुछ प्रवीण हो गए तब भी उन्होंने रामायण और महाभारत का पढ़ना न छोड़ा। जब वह क्रिश्चियन हो गए और उन्होंने सब प्रकार अँगरेज़ी वेश-भूषा स्वीकार कर ली तब, उनके मदरास से लौट आने पर, एक बार एक मित्र ने उनको

काशिदास-कृत बँगला-महाभारत पढ़ते देखा। यह देखकर उसने मधुसूदन से व्यंग्य-पूर्वक कहा—"यह क्या? साहब लोगों के हाथ में महाभारत!" मधुसूदन ने हँसकर उत्तर दिया—"साहब हैं, इसलिये क्या किताब भी न पढ़ने दोगे? रामायण और महाभारत हमको इतने पसंद हैं कि उनको बिना पढ़े हमसे रहा ही नहीं जाता।"

मधुसूदन के गाँव की पाठशाला के अध्यापक भी कविता-प्रेमी थे। उनको फ़ारसी की कविता में अच्छा अभ्यास था। वह फ़ारसी की अच्छी-अच्छी कविताएँ अपने विद्यार्थियों से कंठ कराकर सुनते थे। मधुसूदन ने फ़ारसी की अनेक कविताएँ कंठ की थीं। उनके काव्यानुराग का एक कारण यह भी है। जब मधुसूदन कोई १२-१३ वर्ष के हुए तब उनके पिता उन्हें कलकत्ते ले गए। वहाँ खिदिरपुर में उन्होंने एक अच्छा मकान बनवाया था। कलकत्ते में मधुसूदन पिता के पास रहने लगे। पहले कुछ दिन खिदिरपुर की किसी पाठशाला में उन्होंने पढ़ा। फिर, १८३७ ईसवी में, उन्होंने हिंदू-कॉलेज में प्रवेश किया। इस कॉलेज में वह १८४२ ईसवी तक पढ़ते रहे। जिस समय उन्होंने उसे छोड़ा उस समय उनको अँगरेज़ी में इतनी व्युत्पत्ति हो गई थी जितनी बी० ए०-परीक्षा में पास हुए विद्यार्थी को होती है। अँगरेज़ी-साहित्य में तो उन्होंने बी० ए०-क्लास के विद्यार्थी से भी बहुत अधिक प्रवीणता प्राप्त कर ली थी। छः वर्ष में वर्णमाला से लेकर बी० ए० तक की शिक्षा प्राप्त कर लेना कोई साधारण बात नहीं है। आजकल छः वर्ष तक अँगरेज़ी पढ़कर लड़कों को बहुधा एक शुद्ध वाक्य भी अँगरेज़ी में लिखना नहीं आता। इन छः वर्षों में मधुसूदन ने अपनेसे अधिक अवस्थावाले और ऊँचे दर्जों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों का भी अतिक्रम करके प्रशंसा और, उसके साथ ही, छात्र-वृत्ति भी पाई। कॉलेज में अनेक

ग्रंथ पढ़ने के लिये उनका जैसा नाम था वैसा ही उत्तम अँगरेज़ी लिखने के लिये भी। उनके बराबर अच्छी अँगरेज़ी और कोई लड़का न लिख सकता था। वह पहले गणित में प्रवीण न थे। उनको गणित अच्छा न लगता था। इसलिये गणित-शास्त्र के अध्यापक, समय-समय पर, गणित में परिश्रम करने के लिये उनको उपदेश दिया करते थे। एक बार उनके सहपाठियों में न्यूटन और शेक्सपियर के संबंध में वाद-विवाद होने लगा और लोगों ने न्यूटन का पक्ष लिया। परंतु काव्य के प्रेमी मधुसूदन ने शेक्सपियर ही को श्रेष्ठता दी। उन्होंने कहा—"इच्छा करने से शेक्सपियर न्यूटन हो सकता है, पर न्यूटन शेक्सपियर नहीं हो सकता।"

उसी दिन से वह गणित में परिश्रम करने लगे और थोड़े ही दिनों में गणिताध्यापक के दिए हुए एक महाकठिन प्रश्न का उत्तर, जिसे क्लास का और कोई लड़का न दे सका, देकर अपने कथन को यह कहकर पुष्ट किया कि "क्यों, चेष्टा करने से शेक्स पियर न्यूटन हो सकता है या नहीं ?"

मधुसूदन अपने पिता के अकेले पुत्र थे। घर में अतुल संपत्ति थी। अतएव लड़कपन ही में उनको व्ययशीलता के दोष ने घेर लिया। जैसे-जैसे वह तरुण होने लगे वैसे-ही-वैसे वेश-भूषा बनाने, अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने, अखाद्य खाने और अपेय पीने की अभिलाषा ने उनको अपने अधीन कर लिया। वह मनमानी करने लगे। अपने सहपाठियों के साथ वह मांस-मदिरा का स्वाद लेने लगे; एक-एक मोहर देकर अँगरेज़ी नाइयों से बाल कटाने लगे; और अपरिपक्व अवस्था ही में गौरांग-नारियों से प्रेम की अभिलाषा करने लगे। अँगरेज़ी-कवि, लार्ड बाइरन, के समान युवा होते ही अतृप्त प्रेम-पिपासा के साथ भोगासक्ति और रूप-लावण्य ने मधुसूदन को ग्रास

कर लिया। उस समय हिंदू-कॉलेज के विद्यार्थी शराब और कबाब को सभ्यता में गिनते थे। इस आचरण के लिये उनके अध्यापक भी बहुत कुछ उत्तरदाता थे। कॉलेज के अध्यापकों में डिरोज़िओ और रिचार्डसन साहब आदि अध्यापक विद्या और बुद्धि में असाधारण होने पर भी नीति-परायण न थे। उनकी दुर्नीति, उनकी उच्छृंखलता और उनकी संयम-हीन वृत्ति का बहुत कुछ प्रभाव उनके छात्रों पर पड़ा। मधुसूदन को जो कष्ट पीछे से भोगने पड़े उनका अंकुर कॉलेज ही से उनके हृदय में उगने लगा था। स्वभाव ही से वह तरल-हृदय और प्रेम-पिपासु थे। बाइरन की उन्माद-कारिणी श्रृंगारिक कविता ने, जिसे वह बड़े आग्रह और आदर से पढ़ते थे, उनके मस्तक को और भी घूर्णित कर दिया। बाइरन के जीवन-चरित को पढ़कर मधुसूदन ने सुनीति और मिताचार की ओर पाठशाला ही से अवज्ञा करना सीख लिया।

सागरदाँड़ी में काशिदास और कृत्तिवास की रचना पढ़ने, ग्राम-पाठशाला में फ़ारसी की अनेक शेरों को कंठ करने और हिंदू-कॉलेज में रहने के समय बाइरन आदि अँगरेज़ी-कवियों की कविता का आस्वादन करने से मधुसूदन को कविता लिखने की स्फूर्ति होने लगी।

बहुत ही थोड़ी अवस्था में उन्होंने कविता लिखना आरंभ किया; परंतु अँगरेज़ी में, बँगला में नहीं। अपने सहपाठी लड़कों के साथ बात-चीत करने के समय भी वह कविता में बोलने लगे; पत्र भी कविता में कभी-कभी लिखने लगे; और बाइरन का अनुकरण करके अनेक छोटी-छोटी श्रृंगारिक कविताएँ भी लिखने लगे। कॉलेज में उनके एक परम मित्र थे। उनका नाम था गौरदास बसाक। उनको अपनी कविताएँ मधुसूदन प्रायः भेंट करते थे। उनसे कोई किताब माँगते अथवा

उनको कोई किताब लौटाते समय वह जो पत्र लिखते थे वे भी कभी-कभी पद्य ही में। एक नमूना लीजिए—

Gour, excuse me that in verse
My muse desireth to rehearse
The gratitude she oweth thee;
I thank you and most heartily.
The notion that my friend thou art,
Makes me reject the flatterer's art
Here is your book;—my thanks too here,
That as it was, and these sincere.
Believe me, most amiable Sir,
Your most devoted Servant,

Kidderpore. THE POET.

इस पद्य में हार्दिक धन्यवाद प्रकाशित करने के लिये क्षमा माँगते हुए आप कहते हैं—"आप मेरे मित्र हैं। इस बात का ध्यान मुझे खुशामदाना ढंग को धता बताने के लिये विवश करता है। वैसी-की-वैसी ही अपनी यह पुस्तक और मेरे ये हार्दिक धन्यवाद स्वीकार कीजिए, और कृपालु महाशय, सदा मुझे अपना अनुरक्त दास समझिए।
कवि"

इस अँगरेज़ी-पद्य के नीचे मधुसूदन अपनेको अपने ही हाथ से 'कवि' लिखते हैं। इससे सिद्ध है कि बाल्यावस्था ही से उनकी यह धारणा हो गई थी कि वह कवि हैं। उनकी अँगरेज़ी की शृंगारिक कविता का भी उदाहरण अँगरेज़ी जाननेवाले पाठकों के मनोविनोदार्थ हम यहाँ पर देते हैं—

My Fond Sweet Blue-eyed Maid.

When widely comes the tempest on,
When patience with a sigh

The dreadful thunder-storm does shun
And leave me O' love to die;
I dream and see my bonny maid;
Sudden smiling in my heart;
And Oh! she receives my spirit dead
And bids the tempest part!
I smile—I'gin to live again
And wonder that I live;
O' tho' flung in an ocean of pain,
I've moments to cease to grieve!
Dear one! tho' time shall run his race,
Tho' life decay and fade,
Yet I shall love, nor love thee less,
"My fond sweet Blue-eyed Maid!"

KIDDERPORE:
26th March, 1841. M. S. D.

युवावस्था में प्रवेश करनेवाले १७ वर्ष के नवयुवक की यह शृंगारिक कविता है। इसे मधुसूदन ने एक 'अरविंदलोचनी' को उद्देश करके लिखा है। इसी छोटी अवस्था में वह उस समय के अँगरेज़ी-समाचारपत्रों और पत्रिकाओं में भी अपनी कविताएँ प्रकाशित कराते थे। यहाँ तक कि विलायत की पत्रिकाओं तक में छपने के लिये वह कविता भेजते थे। इस उत्साह को तो देखिए। इस योग्यता को तो देखिए। अँगरेज़ी में कविता करने की इस प्रवीणता को तो देखिए। हिंदू-कॉलेज में, छात्रावस्था में,

मधुसूदन ने लंदन की एक प्रसिद्ध पत्रिका के संपादक को कुछ कविताएँ छपने के लिये भेजी थीं। भेजते समय संपादक को जो पत्र उन्होंने लिखा था वह पढ़ने योग्य है। अतएव हम उसे यहाँ पर उद्धृत करते हैं। वह इस प्रकार है—

To

THE EDITOR OF BENTLEY'S MISCELLANY,

London.

SIR,

It is not without much fear that I send you the accompanying productions of my juvenile muse, as contribution to your Periodical. The magnanimity with which you always encourage aspirants to 'literary fame' induces me to commit myself to you. 'Fame', Sir, is not my object at present, for I am really conscious I do not deserve it; all that I require is encouragement. I have a strong conviction that a public like the British—discerning, generous and magnanimous—will not damp the spirit of a poor foreigner. I am a Hindu—a native of Bengal—and study English at the Hindu College of Calcutta. I am now in my eighteenth year,—'a child'—to use the language of a poet of your land, Cowley, "in learning but not in age."

CALCUTTA, KIDDERPORE, } *I remain, etc.,*

October, 1842. }

अर्थात् लंदन के 'बेंटलेज़ मिसलेनी' के संपादक महोदय की सेवा में,

आपकी पत्रिका में प्रकाशित कराने की नीयत से बहुत डरता हुआ, मैं अपनी लड़क-बुद्धि की उपज—ये रचनाएँ—आपकी सेवा में भेज रहा हूँ। जिस महामनस्कता के साथ आप सदा साहित्यिक कीर्ति के इच्छुकों को प्रोत्साहित करते रहते हैं वही मुझे अपनेको आपके सिपुर्द करने के लिये उत्साहित करती है। महाशय, अभी यशःप्राप्ति मेरा उद्देश नहीं है; क्योंकि मैं खूब जानता हूँ कि अभी मुझमें उसकी पात्रता नहीं। जो कुछ मैं चाहता हूँ वह प्रोत्साहन है। मुझे दृढ़ विश्वास है कि जनता—बृटिश-जनता, जो कि विवेकशील, उदार और महामनस्क है—एक ग़रीब विदेशी के हौसले को पस्त न करेगी। मैं हिंदू हूँ—बंगाल का निवासी हूँ और कलकत्ते के हिंदू-कॉलेज में अँगरेज़ी पढ़ता हूँ। अभी मेरा अठारहवाँ वर्ष चल रहा है, और जैसा कि आपके देश के एक कवि, शेली, ने कहा है—'बच्चा हूँ, विद्वत्ता की, न कि अवस्था की दृष्टि से।'

कलकत्ता, खिदिरपुर
ऑक्टोबर, १८४२ } भवदीय—

मधुसूदन की अँगरेज़ी में अशुद्धियाँ भले हों, उनकी कविता निर्दोष चाहे न हो, परंतु यह सभी स्वीकार करेंगे कि अठारह वर्ष के नवयुवक की अँगरेज़ी में इतनी पारदर्शिता होना आश्चर्य की बात है। आजकल इलाहाबाद के विश्वविद्यालय की सर्वोच्च परीक्षा पास करनेवालों को भी, बहुत प्रयत्न करने और कवित्व-शक्ति का बीज उनके हृदय में विद्यमान होने पर भी, शायद ही मधुसूदन की-जैसी अँगरेज़ी-कविता लिखना आवे।

जब से मधुसूदन ने पाठशाला में प्रवेश किया तब स

अंत तक उन्होंने बड़े ही मनोयोग से विद्याध्ययन किया। उनकी बुद्धि और धारणा-शक्ति विलक्षण थी। उनसे अपने सह-पाठियों का उत्कर्ष कभी सहा न जाता था। क्लास में वह सबसे श्रेष्ठ रहने का यत्न करते थे और उनका स्थान प्रायः सदैव ऊँचा ही रहता था। कॉलेज की पुस्तकों के सिवा वह बाहर की पुस्तकें भी पढ़ते थे; कविता भी करते थे; लेख भी लिखते थे; साथ ही अपनी विलास-प्रियता के लिये समय भी निकाल लेते थे। ये सब बातें उनकी असाधारण बुद्धि और असाधारण प्रतिभा का परिचय देती हैं। कवित्व-शक्ति मनुष्य के लिये अति दुर्लभ गुण है। कठिन परिश्रम अथवा देवानुग्रह के विना वह प्राप्त नहीं होती। किंतु प्रकृति ने यह दुर्लभ शक्ति मधुसूदन को यथेष्ट दी थी। वह जिस समय जो भाषा पढ़ते थे उस समय उसमें थोड़े ही परिश्रम से कविता कर लेते थे। उनको इस बात का विश्वास था कि वह यदि विलायत जायँ तो अँगरेज़ी-भाषा के महाकवि हुए विना न रहें। यह बात उन्होंने अपने मित्र गौरदास को एक बार लिखी भी थी; यथा—

"I am reading Tom Moor's life of my favorite Byron. A splendid book upon my word. Oh! how should I like to see you write my life, if I happen to be a great poet, which I am almost sure, I should be if I can go to England!"

अर्थात् "मैं टॉम मूर का लिखा हुआ अपने प्रिय कवि बाइरन का जीवन-चरित पढ़ रहा हूँ। सच कहता हूँ, पुस्तक अपने ढंग की एक ही है। यदि मैं इँगलैंड जा सका, तो मुझे दृढ़ विश्वास है कि मैं भी एक बड़ा भारी कवि हो जाऊँगा, और यदि मैं बड़ा भारी कवि हो सका तो फिर आपको अपना जीवन-चरित लिखते देख मुझे कितनी प्रसन्नता होगी! वाहवा!"

उनकी इच्छा थी कि गौरदास बाबू उनका जीवन-चरित लिखें ; परंतु इस इच्छा को एक दूसरे ही सज्जन ने, उनके मरने के बीस वर्ष पीछे, पूर्ण किया। इँगलैंड जाने की अभिलाषा उन्हें लड़कपन ही से थी। यह अभिलाषा सफल भी हुई ; परंतु वहाँ जाने से उनको महाकवि का पद न मिला। इसी देश में रहकर उनको महाकवि की पदवी मिली। यह पदवी अँगरेज़ी-कविता के कारण नहीं, किंतु बँगला-कविता के कारण मिली। विदेशी भाषा में कविता करके महाकवि होने की अपेक्षा मातृभाषा ही में इस जगन्मान्य पदवी का पाना विशेष आदर और प्रतिष्ठा की बात है।

सन् १८४३ ईसवी के आरंभ में, मधुसूदन के जीवन में, एक ऐसी घटना हुई जिसके कारण उनको, पीछे से, अनेक आपदाएँ भोगनी पड़ीं। जिस समय वह हिंदू-कॉलेज में पढ़ते थे, उस समय उनके माता-पिता ने उनका विवाह करना स्थिर किया। उनके लिये जो कन्या चुनी गई वह बहुत सुस्वरूपा और गुणवती थी। वह एक धन-संपन्न ज़मींदार की कन्या थी। यह बात जब मधुसूदन को विदित हुई तब उन्होंने अपनी माता से साफ़-साफ़ कह दिया कि वह विवाह न करेंगे। परंतु उनकी बात पर किसी ने ध्यान न दिया। उनके पिता, राजनारायण, ने समझा कि लड़के ऐसा कहा ही करते हैं। जब विवाह के कोई २०-२२ दिन रह गए तब मधुसूदन ने एक बड़ा ही अनुचित काम करना चाहा। उन्होंने क्रिश्चियन-धर्म की दीक्षा लेने का संकल्प दृढ़ किया। यह करके उन्होंने अपने मित्र गौरदास बाबू को लिखा—

"बाबा (पिता) ने हमारा विवाह एक काले पहाड़ के साथ करना स्थिर किया है। परंतु हम किसी प्रकार विवाह न करेंगे। हम ऐसा काम करेंगे जिससे बाबा को चिरकाल दुःखित होना पड़ेगा।"

इसी समय, अर्थात् २७ नवंबर, १८४२ ईसवी की आधी रात

को, खिदिरपुर से उन्होंने गौरदास बाबू को एक और पत्र, अँगरेज़ी में, लिखा। उसमें उन्होंने अपने इँगलैंड जाने का भी संकल्प बड़ी दृढ़ता से स्थिर किया ; यथा—

"You know my desire for leaving this country is too firmly rooted to be removed. The sun may forget to rise, but I cannot remove it from my heart. Depend upon it, in the course of a year or two more, I must either be in E—D or cease "to be" at all;—one of these must be done!"

अर्थात् "सूर्य चाहे उदय होना भूल जायँ, परंतु इस देश को छोड़ने की इच्छा हमारे हृदय से अस्त नहीं हो सकती। वर्ष-दो वर्ष में या तो हम इँगलैंड ही में होंगे या कहीं भी न होंगे।"

मधुसूदन ने इस दृढ़ संकल्प को पूरा किया ; परंतु वर्ष-दो वर्ष में नहीं, कई वर्षों में। मधुसूदन को विलायत जाने और एक गौरांग-रमणी का पाणिग्रहण करने की प्रबल इच्छा थी। क्रिश्चियन होने से उन्होंने इस इच्छा का पूर्ण होना सहज समझा। इसलिये अपनी परम स्नेहवती माता और पुत्र-वत्सल पिता का घर सहसा परित्याग करके उन्होंने क्रिश्चियन-धर्मोपदेशकों का आश्रय लिया। उन्होंने मधुसूदन को कुछ दिन फ़ोर्ट विलियम के क़िले में बंद रक्खा, जिससे उनसे बात-चीत करके कोई उनको अपने संकल्प से विचलित न कर दे। सब बातें पक्की हो जाने पर, १८४३ ईसवी की ९वीं फ़ेब्रुअरी को, उन्होंने अपने विचार की परा काष्ठा करके क्रिश्चियन-धर्म की दीक्षा ले ली। उस समय से वह मधुसूदनदत्त के बदले माइकेल मधुसूदनदत्त हुए। दीक्षा लेते समय उन्होंने अपना ही रचा हुआ यह पद गाया—

I

Long sunk in superstitious nights,
By sin and Satan driven,—
I saw not,—care not for the light
That leads the Blind, to Heaven.

II

I sat in darkness,—Reason's [eye
Was shut,—was closed in me;
I hasten'd] to Eternity
O'er Error's dreadful Sea!

III

But now, at length, thy grace, O Lord!
Bids all around me shine:
I drink thy sweet—thy precious word,—
I kneel before thy shrine!

IV

I've broke Affection's tenderest ties
For my blessed Savior's sake;
All, all I love beneath the skies,
Lord! I for thee forsake!

अर्थात् "शैतान और पाप की प्रेरणा से मैं बहुत दिनों तक मिथ्या अंध-विश्वास के अँधेरे में टक्करें खाता फिरा। अंधे को स्वर्ग की ओर ले जानेवाले प्रकाश को न तो मैंने देखा और न उसकी पर्वा की। मेरे विवेक के नेत्र बंद थे। परंतु, अब हे परमेश्वर, तेरी कृपा से अपने चारों ओर मुझे प्रकाश-ही-प्रकाश दिखलाई देता है। मैं तेरे मधुर शब्दों को हृदयंगम करता और

तेरे सम्मुख अपना सिर झुकाता हूँ। मैंने प्रेम के कोमल-से-कोमल बंधनों को तोड़ डाला है। पृथ्वी पर जो कुछ मुझे प्यारा था उस सभी का, हे प्रभु, तेरे लिये मैं त्याग करता हूँ।"

यह कविता यथार्थ ही धार्मिक भावों से पूर्ण है। परंतु हृदय के जो उद्गार उन्होंने इसमें निकाले हैं वे यदि उनमें स्थायी रहते तो क्या ही अच्छा होता। उनकी यह धर्म-भीरुता और ईश्वर-प्रीति केवल क्षणिक थी।

क्रिश्चियन होने के अनंतर मधुसूदन ने बिशप्स-कॉलेज में प्रवेश किया। वहाँ वह कोई ४ वर्ष तक रहे। इन ४ वर्षों में उन्होंने भाषा-शिक्षा और कवितानुशीलन में अधिक उन्नति की। परंतु उनकी विद्या और बुद्धि की उन्नति के साथ-साथ उनकी उच्छृंखलता भी वहाँ बढ़ती गई। हम यह नहीं कह सकते कि क्रिश्चियन होने ही से उनमें दुर्गुणों की अधिकता हो गई और इसीलिये उनको आगे अनेक आपदाएँ भोग करनी पड़ीं। किसी धर्म की हम निंदा नहीं करते। बात यह है कि मधुसूदन के समान तरल-मति, अपरिणाम-दर्शी और असंयत-चित्त मनुष्य चाहे जिस समाज में रहे और चाहे जिस धर्म से संबंध रक्खे, वह कभी शांति-पूर्वक जीवन-निर्वाह न कर सकेगा।

मधुसूदन के क्रिश्चियन होने से उनके माता-पिता को अनंत दुःख हुआ। उनकी माता तो जीवित ही मृतक-सी हो गईं। उन्होंने भोजन-पान तक बंद कर दिया। इसलिये राजनारायण बाबू मधुसूदन को कभी-कभी अपने घर बुलाने लगे। उन्हें देखकर उनकी माता को कुछ शांति मिलने लगी और वह किसी भाँति अन्न-जल-ग्रहण करके अपने दिन काटने लगीं। मधुसूदन के धर्म-च्युत होने पर भी उनके माता-पिता ने उनको धन की सहायता देने से मुँह नहीं मोड़ा। वे उन्हें यथेच्छ धन देते रहे

और उसे मधुसूदन पानी के समान उड़ाते रहे। कभी-कभी घर आने पर मधुसूदन और उनके पिता से धर्म-संबंधी वाद-विवाद भी हो जाता था। इस विवाद में मधुसूदन अनुचित और कटूक्ति-पूर्ण उत्तर देकर पिता को कभी-कभी दुःखित भी कर देते थे। इस कारण संतप्त होकर पिता ने धन से उनकी सहायता करना बंद कर दिया। विना पैसे के मधुसूदन की दुर्दशा होने लगी। उनके इष्ट-मित्र, अध्यापक और धर्माध्यक्ष, कोई भी उनके दुःखों को दूर न कर सका। कलकत्ते में सब कहीं उनको अंधकार दिखाई देने लगा। उनके मन की कोई भी अभिलाषा पूरी न हुई। न वह विलायत ही जा सके और न जिस अँगरेज़-रमणी पर वह लुब्ध थे वही उनको मिली। सब ओर से उनको निराशा ने आ घेरा।

मधुसूदन के साथ बिशप्स-कॉलेज में मदरास के भी कई विद्यार्थी पढ़ते थे। उनकी सलाह से उन्होंने मदरास जाने का निश्चय किया। कलकत्ता छोड़ जाने ही में उन्होंने अपना कल्याण समझा अतएव, १८४८ ईसवी में, उन्होंने मदरास के लिये प्रस्थान किया। वहाँ जाकर धनाभाव के कारण उनको अपने नूतन धर्म के अवलंबियों से सहायता के लिये प्रार्थना करनी पड़ी। उन्होंने उनकी सहायता की। मातृपितृहीन दरिद्र क्रिश्चियन-लड़कों के लिये वहाँ एक पाठशाला थी। उसमें मधुसूदन शिक्षक नियत किए गए। इस प्रकार उनका धनाभाव-संबंधी क्लेश कुछ-कुछ दूर हो गया। जब मधुसूदन हिंदू-कॉलेज में थे तभी से उनको कविता लिखने और उसे समाचारपत्रों में छपाने का अनुराग था। मदरास में यह अनुराग और भी बढ़ा। वहाँ के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पत्रों और पत्रिकाओं में उनकी कविताएँ प्रकाशित होने लगीं। इससे समाचारपत्रवाले भी उनकी सहायता करने लगे। मदरास ही से मधुसूदन की गिनती ग्रंथकारों में हुई। उनकी दो अँगरेज़ी-

कविताएँ, जो पहले समाचारपत्रों में छपी थीं, यहीं पहले-पहल पुस्तकाकार प्रकाशित हुईं। इनमें से एक का नाम 'कैपटिव लेडी' (Captive Lady) और दूसरी का नाम 'विज़न्स ऑफ़ दि पास्ट' (Visions of the Past) है। इन पुस्तकों के प्रकाशित होने पर मधुसूदन की गिनती अँगरेज़ी-कवियों में होने लगी। केवल मदरास ही के नहीं, किंतु विलायत तक के विद्वानों ने उनकी कविता की प्रशंसा की। परंतु कलकत्ते के किसी-किसी समाचारपत्र ने उनकी कविता की कड़ी समालोचना की। जैसा उत्साह उनको और-और स्थानों से मिला, वैसा कलकत्ते से नहीं मिला। कई लोगों ने तो उनकी पुस्तकों की समालोचना करते समय उनकी दिल्लगी भी उड़ाई।

मदरास में मधुसूदन की एक इच्छा पूरी हुई। वहाँ नील का व्यापार करनेवाले एक साहब की लड़की ने उनसे विवाह किया। परंतु इस विवाह से उन्हें सुख नहीं मिला। विवाह हो जाने पर, कई वर्ष पीछे, उनका संबंध उनकी पत्नी से छूट गया। गृहस्थाश्रम में रहकर जो सहिष्णुता, जो आत्म-संयम और जो स्वार्थ-त्याग आवश्यक होता है वह मधुसूदन से होना असंभव था। इसीलिये, इतना शीघ्र, पति-पत्नी में विच्छेद हो गया। इसके अनंतर मदरास के प्रेसीडेंसी-कॉलेज के एक अध्यक्ष की लड़की से मधुसूदन का स्नेह हुआ और यथासमय उससे उनका विवाह भी हो गया। यही पत्नी अंत तक उनके सुख-दुःख की हिस्सेदार रही।

मदरास में मधुसूदन वहाँ के एक-मात्र दैनिक-पत्र 'स्पेक्टेटर' (Spectator) के सहकारी संपादक हो गए। पीछे से वहाँ के प्रेसीडेंसी-कॉलेज में उनको शिक्षक का पद मिला। सुलेखकों और सुकवियों में उनका नाम हो गया। सब कहीं उनका आदर होने लगा। परंतु इतना होने पर भी उनको शांति और निश्चिं-

तता न मिली। उनका अस्थिर चित्त, अयोग्य व्यवहार और अपरिमित व्यय उनको सदा क्लेशित रखता था। रुपए की उनको सदैव कमी बनी रहती थी।

मधुसूदन को यद्यपि अँगरेज़ी-भाषा में बड़ी दक्षता प्राप्त थी तथापि बँगला में एक साधारण पत्र तक लिखना न आता था। १८ ऑगस्ट, १८४९ ईसवी को उन्होंने अपने मित्र गौरदास को मदरास से एक पत्र भेजा। उसमें आप लिखते हैं—

"As soon as you get this letter, write off to father to say that I have got a daughter. I do not know how to do the thing in Bengali."

अर्थात् "इस पत्र को पाते ही पिता को लिख भेजना कि हमारे एक लड़की हुई है। इस बात को हम बँगला में लिखना नहीं जानते।" सो मेघनादवध-महाकाव्य के कर्ता को १८४९ ईसवी में, अर्थात् कोई २५ वर्ष की उम्र में, बँगला में पत्र तक लिखना न आता था!

मधुसूदन की वे दोनों पुस्तकें, जिनका नाम हमने ऊपर लिखा है, यद्यपि अनेक विद्वानों को पसंद आईं और उनके कारण यद्यपि मधुसूदन का बड़ा नाम हुआ तथापि कलकत्ते में कहीं-कहीं उनकी तीव्र समालोचना भी हुई। वे पुस्तकें देखकर मधुसूदन के मित्रों ने उनको बँगला में कविता करने की सलाह दी। उस समय कलकत्ते में शिक्षा-समिति (Education Council) के सभापति बेथून साहब थे। यह वही बेथून साहब हैं जिनके नाम का कॉलेज अब भी कलकत्ते में वर्तमान है। उन्होंने मधुसूदन को एक पत्र लिखा। उसमें उन्होंने बँगला-महाकाव्य की हीन दशा की समालोचना की और मधुसूदन को यह सलाह दी कि उनके समान उत्साही कवि को अपनी ही भाषा में कविता करके उसे उन्नत करना चाहिए। यह शिक्षा किंवा उपदेश मधुसूदन को पसंद आया और

वह मातृभाषा के अनुशीलन के लिये तैयार हुए। उन्होंने संस्कृत, ग्रीक और लैटिन इत्यादि भाषाएँ सीखना आरंभ कर दिया। यह उन्होंने इसलिये किया जिसमें उनकी सहायता से वह वंग-भाषा को परिमार्जित कर सकें। यह बात उन्होंने अपने एक पत्र में, जो उन्होंने गौरदास बाबू को लिखा था, स्पष्ट स्वीकार की है। उन्होंने अपनी उस समय की दिन-चर्या इस प्रकार रक्खी थी—

६ से ८ बजे तक हेब्रू
८ से १२ बजे तक स्कूल
१२ से २ बजे तक ग्रीक
२ से ५ बजे तक तेलगू और संस्कृत
५ से ७ बजे तक लैटिन
७ से १० बजे तक अँगरेज़ी

भोजन शायद वह स्कूल ही में करते थे ; क्योंकि उसके लिये उन्होंने कोई समय नहीं रक्खा। दिन-रात में १२ घंटे अध्ययन, ४ घंटे स्कूल और ८ घंटे विश्राम ! ऐसा कठिन अध्ययन तो स्कूल के लड़कों में भी कोई बिरला ही करता होगा।

मधुसूदन के मदरास जाने के ३ वर्ष पीछे उनकी माता का परलोक-गमन हुआ और ७ वर्ष पीछे पिता का। पिता के मरने पर मधुसूदन की पैतृक संपत्ति उनके आत्मीयों ने अपने अधिकार में कर ली। यह संपत्ति मधुसूदन के कलकत्ते लौट आने और न्यायालय में कई अभियोग चलाने पर उनको मिली। उनके माता-पिता की मृत्यु और उनकी स्थावर-जंगम संपत्ति की अवस्था का समाचार गौरदास बाबू ने उनको लिख भेजा। अतः मधुसूदन महाशय, महाशय क्यों साहब, कोई आठ वर्ष मदरास में रहकर, १८५६ ई० की जनवरी में, कलकत्ते लौट आए।

कलकत्ते लौट आने पर, थोड़े ही दिनों में, उनको श्रीहर्ष-

रचित रत्नावली नाटक का अनुवाद अँगरेज़ी में करना पड़ा। उस समय कलकत्ते के सभ्य-समाज को पहले-ही-पहल नाटक देखने का चाव हुआ। इसलिये पाइकपाड़ा के राजा प्रतापचंद्र सिंह और ईश्वरचंद्र सिंह ने बेलगाछिया में एक नाट्य-शाला बनवाई। उसमें खेलने के लिये, इन दोनों राजों की आज्ञा से, पंडित रामनारायण ने रत्नावली का बँगला-अनुवाद किया। परंतु यह समझकर कि बँगला में खेल होने से अँगरेज़-दर्शकों को बहुत ही कम आनंद मिलेगा, उन्होंने इस नाटक का अनुवाद अँगरेज़ी में किए जाने की इच्छा प्रकट की। उस समय के सभ्य-समाज में गौरदास बाबू भी थे। उनकी सलाह से यह काम मधुसूदन को दिया गया। मधुसूदन ने इस काम को बड़ी योग्यता से किया। थोड़े ही दिनों में उन्होंने रत्नावली का अँगरेज़ी-अनुवाद समाप्त करके उसे पूर्वोक्त राजयुग्म को दिखलाया। उन्होंने तथा महाराजा यतींद्र-मोहन ठाकुर आदि और भी कृतविद्य लोगों ने उसे बहुत पसंद किया। पूर्वोक्त राजों ने उसे अपने व्यय से छपाया और मधुसूदन को उनके परिश्रम के बदले ५००) रुपए का पुरस्कार दिया।

इस प्रकार सब तैयारी हो चुकने पर, १८५८ ईसवी की ३१ जुलाई को, बेलगाछिया की नाट्य-शाला में रत्नावली का खेल हुआ। खेल के समय और-और धनी, मानी, अधिकारी तथा राजपुरुषों के सिवा बंगाल के छोटे लाट भी उपस्थित थे। नाटक का अभिनय बहुत ही उत्तम हुआ। वह इतना सुंदर और हृदय-ग्राही हुआ कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। उसे देखकर सब सामाजिक मोहित हो गए। तब से मधुसूदन की प्रतिष्ठा का कलकत्ते में सूत्रपात हुआ। वह प्रसिद्ध कवि और प्रसिद्ध नाटककार गिने जाने लगे।

एक बार मधुसूदन के मित्रों ने यह कहा कि बँगला में कोई समयानुकूल अच्छा नाटक नहीं है; यदि होता तो रत्नावली के

खेलने की आवश्यकता न थी । इस पर मधुसूदन ने एक बँगला-नाटक लिखने की इच्छा प्रदर्शित की, जिसे सुनकर सबको आश्चर्य और कुतूहल, दोनों, हुए । यह वे जानते थे कि बँगला में एक पत्र लिखते जिसका सिर दर्द करने लगता था वह कहाँ तक बँगला-नाटक लिखने में समर्थ होगा । परंतु, उस समय, उन्होंने इतना ही कहा कि "प्रयत्न कीजिए ।" मधुसूदन ने जान लिया कि उनके मित्रों को इस बात का विश्वास नहीं है कि वह बँगला में नाटक लिख सकेंगे । अतएव उनके संशय को निवृत्त करने के लिये वह चुपचाप 'शर्मिष्ठा-नाटक' नाम की एक पुस्तक लिखने लगे । इस पुस्तक को उन्होंने थोड़े ही दिनों में समाप्त करके अपने मित्रों को दिखलाया । उसे देखकर सब चकित हो गए । जो मधुसूदन 'पृथ्वी' को 'प्रथिवी' लिखते थे उनके इस रचना-कौशल को देखकर सबने दाँतों-तले उँगली दबाई । 'शर्मिष्ठा-नाटक' में पंडित रामनारायण इत्यादि प्राचीन नाटक-प्रणाली के अनुयायियों ने अनेक दोष दिखलाए । उन्होंने उसे नाटक ही में न गिना । परंतु नवीन प्रथावालों ने उसे बहुत पसंद किया । पाइकपाड़ा के राजयुग्म और महाराजा यतींद्रमोहन ने उसे अभिनय के लिये बहुत ही उपयुक्त समझा । महाराजा यतींद्रमोहन ने तो उसमें अभिनय के समय गाने के लिये कई गीत स्वयं बनाए । पाइकपाड़ा के दोनों राजपुरुषों ने उसे भी अपने व्यय से छपाया और इस बार भी मधुसूदन को योग्य पुरस्कार दिया । सन् १८५८ ईसवी में शर्मिष्ठा-नाटक प्रकाशित हुआ और १८५९ के सेप्टेंबर में वह बेलगाछिया की नाट्य-शाला में खेला गया । उसका भी अभिनय देखकर दर्शक-वृंद मोहित हुए और उन्होंने मधुसूदन की सहस्र-मुख से प्रशंसा की ।

मधुसूदन की शर्मिष्ठा पंडित रामनारायण के पास समालोचना

के लिये भेजी गई थी। रामनारायण ने उसमें बहुत कुछ फेर-फार करना चाहा। इस विषय में मधुसूदन गौरदास बाबू को लिखते हैं—

"यदि दो-चार फेर-फार किए जायँ तो कोई चिंता नहीं; परंतु हमारे सभी वाक्यों को नए सिरे से लिखना! कदापि नहीं। ऐसा होने देने की अपेक्षा हम उसे जला देना ही अच्छा समझते हैं।"

मधुसूदन के समान उद्दंड और स्वतंत्र स्वभाववाले को दूसरे की की हुई काट-छाँट भला कब पसंद आने लगी।

मधुसूदन का दूसरा नाटक 'पद्मावती' है। यह नाटक उन्होंने ग्रीक लोगों के पौराणिक इतिहास के आधार पर लिखा है। घटना-वैचित्र्य में शर्मिष्ठा की अपेक्षा पद्मावती श्रेष्ठ है; परंतु नाटकीय चरित्र-चित्रण के संबंध में शर्मिष्ठा की अपेक्षा इसमें मधुसूदन अधिकतर निपुणता दिखाने में कृतकार्य नहीं हुए। पद्मावती ही में पहले-पहल उन्होंने अमित्राक्षर-छंदों का प्रयोग किया।

पाइकपाड़ा के राजा प्रतापचंद्र और ईश्वरचंद्र जिस प्रकार मधुसूदन के गुणों पर मोहित थे उसी प्रकार महाराजा यतींद्रमोहन ठाकुर भी मोहित थे। इन तीनों सत्पुरुषों ने मधुसूदन को अनेक प्रकार से साहाय्य और उत्साह दिया। एक दिन महाराजा यतींद्रमोहन और मधुसूदन में, परस्पर, इस प्रकार, साहित्य-संबंधिनी बात-चीत हुई—

मधुसूदन—"जब तक बँगला में अमित्राक्षर-छंदों का प्रयोग न होगा तब तक काव्य और नाटक-ग्रंथों की विशेष उन्नति न होगी।"

महाराजा—"बँगला की जैसी अवस्था है उसे देखते उसमें ऐसे छंदों के होने की बहुत कम संभावना है।"

मधुसूदन—"हमारा मत आपके मत से नहीं मिलता। चेष्टा करने से हमारी भाषा में भी अमित्राक्षर-छंद लिखे जा सकते हैं।"

महाराजा—"फ्रेंच भाषा बँगला की अपेक्षा अधिक उन्नत है। उसमें भी जब ऐसे छंद नहीं हैं तब बँगला में उनका होना प्रायः असंभव है।"

मधुसूदन—"यह सत्य है ; परंतु बँगला-भाषा संस्कृत से उत्पन्न हुई है। संस्कृत में जब अमित्राक्षर-छंद हैं तब वे बँगला में भी हो सकते हैं।"

इस प्रकार कुछ देर तक वाद-प्रतिवाद हुआ। अंत में मधुसूदन ने कहा—"यदि हम स्वयं एक ग्रंथ अमित्राक्षर-छंदों में लिखकर आपको दिखावें तो आप क्या करेंगे ?" इस पर महाराजा ने उत्तर दिया—"यदि ऐसा होगा तो हम पराजय स्वीकार करेंगे और अमित्राक्षर-छंदों में रचित ग्रंथ को अपने व्यय से छपा देंगे।" यह बात मधुसूदन ने स्वीकार की और वह अपने घर गए।

मधुसूदन ने अपने पद्मावती-नाटक में ऐसे छंदों का व्यवहार किया ही था। अब वह ऐसे छंदों में एक स्वतंत्र ग्रंथ लिखने लगे। उसका नाम उन्होंने 'तिलोत्तमा-संभव-काव्य' रक्खा। थोड़े ही दिनों में मधुसूदन ने उसे समाप्त करके महाराजा यतींद्रमोहन ठाकुर, डॉक्टर राजेंद्रलाल मित्र और बाबू राजनारायण वसु आदि को दिखलाया। देखते ही सब लोग चकित हो गए ; मधुसूदन को सहर्ष धन्यवाद देने लगे ; और सबने एक-वाक्य से स्वीकार किया कि इस काव्य में अमित्राक्षर-छंदों की योजना करके मधुसूदन पूर्ण रीति से कृतकार्य हुए हैं। महाराजा यतींद्रमोहन ने अपने वचन का पालन किया और १८६० ईसवी के मई महीने में तिलोत्तमा-संभव को अपने व्यय से प्रकाशित कराया। इस काव्य को मधुसूदन ने महाराजा यतींद्रमोहन ही को अर्पण किया। अर्पण करने के समय का एक फ़ोटो (चित्र) भी लिया गया। मधुसूदन के हाथ का लिखा हुआ यह काव्य अब तक

महाराजा के पुस्तकालय में सुरक्षित है। इसी समय से मधुसूदन के द्वारा बँगला में एक नवीन छंद का प्रचार हुआ। इसी समय से बँगला-भाषा का कविता-स्रोत एक नवीन मार्ग से प्रवाहित होने लगा।

तिलोत्तमा-संभव-काव्य सुंद-उपसुंद के पौराणिक आख्यान का अवलंबन करके रचा गया है। उसके कुछ अंश का अनुवाद मधुसूदन ने अँगरेज़ी में भी किया है। किसी नई बात को होते देखकर लोग प्रायः कुचेष्टाएँ करने लगते, और भाँति-भाँति से भली-बुरी उक्तियों के द्वारा अपने मन की मलिनता प्रकट करते हैं। मधुसूदन भी इससे नहीं बचे। अमित्राक्षर-छंदोबद्ध तिलोत्तमा-संभव के प्रकाशित होने पर उनको अनेक कटूक्तियाँ सुननी पड़ीं। लोगों ने उन पर हास्य-रसमयी कविताएँ तक बनाईं। परंतु मधुसूदन ने इन नीच अंतःकरणवालों की ओर भ्रूक्षेप तक न किया। उनके काव्य की डॉक्टर राजेंद्रलाल मित्र और बाबू राजनारायण वसु आदि ने बहुत प्रशंसा की, जिसे पढ़कर अनेक रसिक जनों का चित्त उसकी ओर आकृष्ट हो गया।

शर्मिष्ठा-नाटक की रचना के अनंतर और तिलोत्तमा-संभव के प्रकाशित होने के पहले मधुसूदन ने दो प्रहसन भी लिखे। उनकी रचना उन्होंने १८५९ और १८६० ईसवी में की। इन प्रहसनों में एक का नाम "एकेई कि बले सभ्यता ?" (क्या इसी को सभ्यता कहते हैं ?) और दूसरे का "बूड़ो शालिकेर घाड़े रोंया" (बुड्ढे शालिक-पक्षी * की गर्दन में रोएँ) है। पहले में एक धनी वैष्णव के अँगरेज़ी-शिक्षित पुत्र की उपहासास्पद सभ्यता का वर्णन है; और दूसरे में भक्तप्रसाद-नामक एक तिलक-मालाधारी,

* शालिक=गलगल, गलगलिया, गलार।

वक-धार्मिक वृद्ध का एक मुसलमान-तरुणी पर अनुराग और तज्जनित उसका उपहास वर्णन किया गया है।

इन दोनों प्रहसनों का अनुवाद हिंदी में हो गया है। मधुसूदन के दो नाटकों का भी अनुवाद हिंदी में हुआ है। उनकी और पुस्तकों का भी चाहे अनुवाद हुआ हो; परंतु हमने इन्हीं को देखा है। जिन नाटकों का अनुवाद हमने देखा है उनके नाम हैं 'कृष्णकुमारी' और 'पद्मावती'। कृष्णकुमारी के विषय में हम आगे चलकर कुछ और लिखेंगे। पद्मावती का उल्लेख पहले ही हो चुका है। इन नाटकों और प्रहसनों के अनुवाद बनारस के भारतजीवन-प्रेस में छपे हैं। कृष्णकुमारी के अनुवादक ने पुस्तक के नाम-निर्देश-पत्र (Title Page) पर मधुसूदन का नाम नहीं दिया। केवल इतना ही लिखा है कि "वंग-भाषा से शुद्ध आर्य-भाषा में अनुवाद"। परंतु, भीतर, भूमिका और नाटक की प्रस्तावना में, मधुसूदन का नाम दे दिया गया है। पद्मावती-नाटक के अनुवादक वही हैं जो कृष्णकुमारी के; परंतु पद्मावती की प्रस्तावना में मधुसूदन का नाम उन्होंने नहीं लिखा और न टाइटिल-पेज ही पर लिखा। टाइटिल-पेज पर वही पूर्वोक्त वाक्य है—"वंग-भाषा से शुद्ध आर्य-भाषा में अनुवाद"। कृष्णकुमारी का दूसरा अनुवाद गंगा-पुस्तकमाला में भी निकला है। यह बात नाटकों के अनुवाद की हुई।

"क्या इसी को सभ्यता कहते हैं?" इस नाम के प्रहसन में भी पद्मावती-नाटक के समान मधुसूदन का कहीं भी नाम नहीं। उसके नाम-निर्देश-पत्र पर अनुवादक महाशय ने केवल "वंग-भाषा से अनुवाद किया" इतना ही लिखा है। पात्रों के नाम जो मूल-बँगला-पुस्तक में हैं वे ही उन्होंने अनुवाद में भी रक्खे हैं। "बुड्ढे शालिक की गर्दन में रोएँ"-नामक प्रहसन के अनुवाद में

विशेषता है। उसका नाम रक्खा गया है "बूढ़े मुँह मुहासे लोग देखैं तमासे"। इस अनुवाद में न कहीं मधुसूदन ही का नाम है और न कहीं यही लिखा है कि वह बँगला से अनुवादित हुआ है। नाम-निर्देश-पत्र पर उलटा यह लिखा है कि अमुक-अमुक की "हास्यमयी लेखनी से लिखित"। इसमें मूल-पुस्तक के पात्रों के नाम भी बदल दिए गए हैं। भक्तप्रसाद के स्थान में नारायणदास, हनीफ़ ग़ाज़ी के स्थान में मौला, गदाधर के स्थान में कलुआ आदि इस प्रांत के अनुकूल नाम रक्खे गए हैं। जान पड़ता है, ये सब बातें भूल से अथवा भ्रम से हुई हैं; क्योंकि जिनको सब लोग हिंदी-लेखकों का आचार्य समझते हैं और दूसरों को धर्मोपदेश देना ही जिनके घर का बनिज है वह जान-बूझकर दूसरे की वस्तु को कदापि अपनी न कहेंगे।

१८६१ ईसवी के लगभग मधुसूदन ने चार ग्रंथ लिखे। 'मेघनादवध', 'कृष्णकुमारी', 'व्रजांगना' और 'वीरांगना'। इस समय मधुसूदन की प्रतिभा का पूर्ण विकास समझना चाहिए। भाषा का लालित्य, भाव का उत्कर्ष और गांभीर्य तथा ग्रंथ-गत चरित्र-समूह की पूर्णता आदि गुणों का विचार करने पर यही कहना पड़ता है कि मधुसूदन के लिखे हुए इसी समय के ग्रंथ उनकी ग्रंथावली में सबसे श्रेष्ठ हैं। व्रजांगना, कृष्णकुमारी और मेघनाद-वध, ये तीनों ग्रंथ मधुसूदन ने प्रायः एक ही साथ आरंभ किए और प्रायः एक ही साथ समाप्त भी किए।

मधुसूदन के ग्रंथों में मेघनादवध सबसे श्रेष्ठ है। यह काव्य रामायण की पौराणिक कथा के आधार पर लिखा गया है। इसमें वीर-केसरी मेघनाद की मृत्यु का प्रतिपादन है। इस काव्य के राक्षस प्राचीन राक्षसों के-जैसे नहीं; वे हमारे ही समान मनुष्य हैं। भेद इतना ही है कि मनुष्यों की अपेक्षा वीरत्व, गौरव,

ऐश्वर्य और शारीरिक बल आदि में वे कुछ अधिक हैं। मेघनाद-वध के कपि भी लंबी-लंबी पूँछों और बड़े-बड़े बालोंवाले पशु नहीं ; वे भी साधारण मनुष्य ही हैं। राम और सीता भी ईश्वरावतार नहीं ; वे भी साधारण नर-नारियों के समान सुख-दुःख-भोगी और कर्मानुसार फल-भोग करनेवाले कल्पित किए गए हैं। उनमें और मनुष्य में इतना ही अंतर रक्खा गया है कि वे अपने तपोबल से देवतों को प्रत्यक्ष कर सकते थे।

मेघनादवध में मधुसूदन ने अपनी कविता-शक्ति की चरम सीमा दिखलाई है। उसमें उन्होंने अमित्राक्षर-छंदों की योजना की है। उस काव्य में सब ९ सर्ग हैं ; और उनमें तीन दिनों और दो रातों की घटनाओं का वर्णन है। वह वीर-रस-प्रधान काव्य है। उसकी कविता में कहीं-कहीं वीर-रस का इतना उत्कर्ष हुआ है कि पढ़ते-पढ़ते भीरुओं के भी मन में उस रस का संचार हो आता है। ऐसी विलक्षण रचना, ऐसा उद्धत भाव, ऐसा रस-परिपाक शायद ही और किसी अर्वाचीन काव्य में हुआ हो। इस काव्य में मेघनाद की पत्नी प्रमिला का चरित्र बड़ा ही मनोहर है। मधुसूदन के कल्पना-कानन का वह सर्वोत्कृष्ट कुसुम है। प्रमिला की कुल-वधूचित कोमलता, पति के लिये उसका आत्म-त्याग और वीर-नारी को शोभा देनेवाला उसका शौर्य अप्रतिम रीति से चित्रित किया गया है। इस काव्य के नवम सर्ग में मधुसूदन ने करुण-रस की भी परा काष्ठा दिखाई है। जिस प्रकार उनके वीर-रसात्मक वर्णन पढ़ते समय पढ़नेवाले की भुजाएँ फड़कने लगती हैं उसी प्रकार उनकी करुण-रसात्मक उक्तियाँ पढ़ते समय आँसू निकलने लगते हैं। अशोक-वन में बैठी हुई मूर्तिमती विरह-व्यथा-रूपिणी जानकी का और श्मशान-शय्या के ऊपर स्वामी के पैरों के पास बैठी हुई नवीन विधवा प्रमिला का

चित्र देखकर कौन ऐसा पाषाण-हृदय होगा जिसके नेत्रों से अश्रु-धारा न निकलने लगे ! बाबू रमेशचंद्र दत्त ने इस काव्य के संबंध में मधुसूदन की जो प्रशंसा की है वह यथार्थ है । वह कहते हैं—

"The reader, who can feel and appreciate the Sublime, will rise from a study of this great work with mixed sensation of veneration and awe, with which few poets can inspire him, and will candidly pronounce the bold author to be indeed a genius of a very high order, second only to the highest and greatest that have ever lived, like Vyas, Valmiki or Kalidas: Homer Dante or Shakespeare.'

Literature of Bengal, Page 196.

रमेश बाबू की राय है कि स्वदेशियों में व्यास, वाल्मीकि अथवा कालिदास और विदेशियों में होमर, दांते अथवा शेक्सपियर ही के समान विख्यात ग्रंथकारों का स्थान मधुसूदन से ऊँचा है ; अर्थात् और कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकते ; वे सब उनके नीचे हैं । उचित था कि हम यहाँ पर मेघनादवध के दो-चार उत्तमोत्तम स्थलों की कविता के नमूने उद्धृत करते ; परंतु ऐसा करना प्रायः निष्फल होगा ; क्योंकि हिंदी-भाषा-भाषी प्रांतों में अँगरेज़ी जाननेवाले तो बहुत होंगे, पर बँगला जाननेवाले बहुत ही कम । इसीलिये हमने ऐसा नहीं किया ।

संसार का नियम है कि प्रायः कोई भी वस्तु निर्दोष नहीं । सबमें कोई-न-कोई दोष होता ही है । कालिदास ने कुमार-संभव में ठीक ही कहा है—

"प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ।"

अर्थात् "संपूर्णता गुणों की प्रायः कहीं न पाई जाती है।"

मेघनादवध भी निर्दोष नहीं है। उसमें यह दोष है कि रामचंद्र और लक्ष्मण के चरित की अपेक्षा मेघनाद के चरित का अधिक उत्कर्ष वर्णन किया गया है। राम और लक्ष्मण के कथन और कार्य में कहीं-कहीं भीरुता तक का उदाहरण पाया जाता है। मधुसूदन ने आर्यवंशियों की अपेक्षा अनार्य राक्षसों का कई स्थलों में पक्षपात किया है; उनके साथ उन्होंने अधिक सहानुभूति दिखलाई है। संभव है, आजकल के समय का विचार करके उन्होंने बुद्धिपुरःसर ऐसा किया हो।

प्रकाशित होते ही मेघनादवध का वंग-देश में बड़ा आदर हुआ। बाबू कालीप्रसन्न सिंह, राजा प्रतापचंद्र, राजा ईश्वरचंद्र, राजा दिगंबर मित्र, महाराजा यतींद्रमोहन आदि ने मिलकर मधुसूदन का अभिनंदन करने के लिये उनकी अभ्यर्थना की। नियत समय पर एक सभा हुई, जिसमें मधुसूदन को एक अभिनंदन-पत्र और एक चाँदी का मूल्यवान् पात्र उपहार दिया गया। अभी तक मधुसूदन का प्रकाश्यरूप में सम्मान न हुआ था; परंतु आज वह भी उन्हें प्राप्त हो गया।

मेघनादवध की पहली आवृत्ति एक ही वर्ष में बिक गई। उसे लोगों ने इतना पसंद किया कि शीघ्र ही उसकी दूसरी आवृत्ति निकालनी पड़ी। उस आवृत्ति में कविवर बाबू हेमचंद्र वंद्योपाध्याय ने एक सुदीर्घ समालोचना लिखकर ग्रंथ के साथ प्रकाशित की। उसके अतिरिक्त बाबू राजनारायण वसु और डॉक्टर राजेंद्रलाल मित्र आदि ने भी उसकी समालोचना समाचारपत्रों में प्रकाशित करके मधुसूदन का बहुत कुछ गौरव किया। इस कारण मधुसूदन, उस समय से, बँगला के परम प्रतिष्ठित कवि हुए।

मधुसूदन का व्रजांगना-काव्य श्रृंगार-रस-प्रधान है। उसमें

१८ कविताएँ हैं। उन कविताओं में प्रायः राधिका का विरह-वर्णन है। कृष्णकुमारी-नाटक की कथा मधुसूदन ने टाड साहब के राजस्थान से ली है। उसमें कवि की शोकोद्दीपक शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। वह बँगला-भाषा में पहला विषादांत नाटक है। संस्कृत के नाट्याचार्यों ने इस प्रकार के नाटक की रचना का निषेध किया है। परंतु मधुसूदन किसी विधि-निषेध के अनुसार चलनेवाले कवि न थे। और, कोई कारण भी नहीं कि विषादांत नाटक क्यों न हों ? यदि प्रकृति-विशेष का चित्र दिखलाना ही नाटक का मुख्य उद्देश है तो उसका अंत सुख में भी हो सकता है और दुःख में भी। बुरी प्रकृतिवालों को अंत में अवश्य ही दुःख मिलता है। अतएव नाटकों की रचना विषादांत भी हो सकती है।

मदरास से कलकत्ते लौट आने पर मधुसूदन पुलिस की कचहरी में एक पद पर नियुक्त हो गए थे। वहीं वह अब तक बराबर काम करते थे। उनके परिवार में कोई लिखने योग्य घटना नहीं हुई। उनकी दूसरी स्त्री से उनके एक पुत्र था और एक कन्या। राजकार्य से, पुस्तकों की प्राप्ति से और उनकी पैतृक संपत्ति से जो कुछ अर्थागम होता था उससे एक मध्यवित्त गृहस्थ के समान उनके दिन व्यतीत होते थे। इस समय वह बँगला-भाषा के अद्वितीय लेखक समझे जाते थे। यद्यपि पारिवारिक जीवन सुख से बिताने के लिये उनको किसी बात का अभाव न था ; परंतु फिर भी, अभाग्यवश, वह सुखी न थे। सुख सांसारिक सामग्री पर अवलंबित नहीं रहता। वह मन और आत्म-संयम ही पर विशेष करके अवलंबित रहता है। परंतु मन को संयत करना—उसे अपने अधीन रखना—मधुसूदन जानते ही न थे। अतएव मन की उच्छृंखलता के कारण धन, जन और यश इत्यादि किसी बात ने उनको

आनंदित न किया। उनका जीवन अशांति ही में बीतता रहा। उनकी 'आत्म-विलाप'-नामक कविता इस बात की गवाही देती है कि उनका जीवन गंभीर यंत्रणाओं में पड़कर चक्कर खाता रहता था। ग्रंथ-रचना में लगे रहने से मधुसूदन को उनकी मर्म-कृंतक व्यथाएँ कम सताती थीं।

'वीरांगना'-काव्य को यद्यपि मधुसूदन ने मेघनादवध इत्यादि पहले के तीन ग्रंथों के साथ ही लिखना आरंभ किया था तथापि उसकी समाप्ति उन्होंने १८६२ ईसवी में की। 'वीरांगना' गीति-काव्य है। प्रसिद्ध रोमन कवि ओविद (Ovid)-रचित वीरपत्रा-वली (Heroic Epistles) को आदर्श मानकर, मधुसूदन ने यह काव्य लिखा है। उसमें प्रसिद्ध पौराणिक महिलाओं के पत्र हैं। अर्थात् वह मधुसूदन की पत्राकार काव्य-रचना है। उसमें इतने पत्र अथवा विषय हैं—

(१)—दुष्यंत के प्रति शकुंतला
(२)—चंद्र के प्रति तारा
(३)—कृष्ण के प्रति रुक्मिणी
(४)—दशरथ के प्रति कैकेयी
(५)—लक्ष्मण के प्रति शूर्पणखा
(६)—अर्जुन के प्रति द्रौपदी
(७)—दुर्योधन के प्रति भानुमती
(८)—जयद्रथ के प्रति दुःशला
(९)—शंतनु के प्रति जाह्नवी
(१०)—पुरूरवा के प्रति उर्वशी
(११)—नीलध्वज के प्रति जना

ये ही इस काव्य के ११ सर्ग हैं। इनमें से कोई सर्ग प्रेमपत्रिका-मय है, कोई प्रत्याख्यान-पत्रिकामय है, कोई स्मरणार्थ-पत्रिकामय

है, और कोई अनुयोगपत्रिकामय है। इस पुस्तक में तारा और शूर्पणखा आदि की प्रेम-भिक्षा जैसी हृदय-द्रावक है, जानकी की प्रत्याख्यानपत्रिका भी वैसी ही कठोर है ? 'वीरांगना' में भी मधुसूदन की प्रतिभा का पूर्ण विकास देखा जाता है। यह काव्य भी उनके उत्कृष्ट ग्रंथों में है। परंतु इसके आगे मधुसूदन की प्रतिभा का ह्रास आरंभ हुआ। इसके बाद वह कोई अच्छा ग्रंथ लिखने में समर्थ नहीं हुए। बाबू राजनारायण वसु के अनुरोध से मधुसूदन सिंहलविजय-नामक एक और काव्य लिखने लगे थे; परंतु उसका आरंभ ही करके वह रह गए।

अपने मित्रों की सलाह से मधुसूदन ने पहले ही से क़ानून की किताबें देखना आरंभ कर दिया था। अब, अर्थात् जून १८६२ ईसवी में, उन्होंने बारिस्टर होने की इच्छा से विलायत जाना निश्चय किया। एक विश्वस्त पुरुष को उन्होंने अपनी पैतृक संपत्ति का प्रबंधकर्ता नियत किया। उससे उन्होंने यह स्थिर कर लिया कि कुछ रुपए वह प्रतिमास उनकी पत्नी को दे और कुछ उनके ख़र्च के लिये विलायत भेजे। यह सब प्रबंध ठीक करके, ९ जून १८६२ ईसवी को, उन्होंने कलकत्ते से प्रस्थान किया। चलने के पहले, ४ जून को, उन्होंने अपने मित्र राजनारायण बाबू को एक पत्र लिखा। इस पत्र में उन्होंने यह वचन दिया कि विलायत जाकर भी वह अपनी स्वदेशी कविता को न भूलेंगे; और चलते-चलते, पत्र के साथ ही, उन्होंने एक कविता भी भेजी। यह कविता उन्होंने अँगरेज़ी-कवि लॉर्ड बाइरन की "My Native Land Good-Night!" इस पंक्ति को सूत्र मानकर रची। इसका नाम है 'वंग-भूमि के प्रति'। यह बहुत ही ललित और हृदय-ग्राहिणी कविता है। यह लिखकर, पत्र को समाप्त करने के पहले, राजनारायण बाबू को मधुसूदन लिखते हैं—

Here you are, old Raj!—All that I can say is—

"मधुहीन करो ना गो तव मनः कोंदनद।"

Praying God to bless you and yours and wishing you all success in life.

I remain,

Ever your affectionate friend,

MICHAL M. S. DUTTA.

इस अवतरण में बँगला की जो एक उक्ति उद्धृत है वह बहुत ही मनोरम और सामयिक है। उसके द्वारा मधुसूदन अपने मित्र राजनारायण से कहते हैं कि अपने मनोरूपी कमल में मधु की हीनता न होने देना; अथवा अपने मनोमय कमल को मधु-हीन न करना। इस उक्ति में 'मधु'-शब्द के दो अर्थ हैं। मधु=पुष्परस तथा मधुसूदन के नाम का पूर्वार्द्ध। इसके द्वारा मधुसूदन ने राजनारायण से यह प्रार्थना की कि "तुम हमें भूल मत जाना।"

१८६२ ईसवी के जुलाई-महीने के अंत में मधुसूदन इँगलैंड में उपस्थित हुए और बारिस्टरी का व्यवसाय सीखने के लिये "ग्रेज़ इन" (Grey's Inn)-नामक संस्था में उन्होंने प्रवेश किया। जिस व्यवसाय में वह प्रवृत्त हुए वह उनके योग्य न था। उसमें उनका आंतरिक अनुराग न था। विना अनुराग किसी काम में प्रवृत्त होने से जो फल होता है वही फल मधुसूदन को भी मिला। किसी प्रकार बारिस्टर होकर, दो वर्ष के स्थान में चार-पाँच वर्ष विलायत में रहकर, वह कलकत्ते लौट आए। परंतु बारिस्टरी के व्यवसाय में उनको सफलता न हुई। विलायत जाने में मधुसूदन का एक और उद्देश यह था कि वहाँ कुछ काल रहकर वह विदेशी भाषाएँ सीखें। यह उद्देश उनका बहुत कुछ सफल हुआ। अँगरेज़ी तो उनकी मातृभाषा के समान हो गई थी। उसके अतिरिक्त उन्होंने

जर्मन, फ़्रेंच, इटालियन, लैटिन, ग्रीक और पोर्चुगीज़ भाषाओं में विशेष विज्ञता प्राप्त की। उनमें वह विना किसी क्लेश के बात-चीत करने और पत्र आदि लिख सकने लगे। फ़्रेंच और इटालियन में तो वह कविता तक करने लगे। इन छः भाषाओं के सिवा संस्कृत, फ़ारसी, हेब्रू, तामिल, तेलगू और हिंदी का भी उनको अल्पाधिक ज्ञान था। बँगला तो उनकी मातृभाषा ही थी। इस प्रकार इँगलैंड जाने से उनकी बहु-भाषा-विज्ञता बढ़ गई। अनेक विदेशी भाषाओं में उन्होंने लिखने-पढ़ने की योग्यता प्राप्त कर ली। इस देश के विद्वानों में, जहाँ तक हम जानते हैं, किसी दूसरे ने इतनी भाषाएँ नहीं सीखीं।

इँगलैंड जाने से उनका भाषा-ज्ञान अवश्य बढ़ गया। परंतु उसके साथ ही उनकी आपदाएँ भी बढ़ गईं। उनके ग्रंथों के समान उनके जीवन को भी एक विषादांत काव्य समझना चाहिए। कलकत्ते में, मदरास में, विलायत में, सब कहीं, उनको दुःख और परिताप के सिवा सुख और समाधान नहीं मिले।

मधुसूदन का इँगलैंड जाना ही उनकी भावी आपत्तियों का मूल कारण हुआ। जिन लोगों पर उन्होंने अपनी संपत्ति के प्रबंध आदि का भार अर्पण किया था, वे महीने ही दो महीने में अपने कर्तव्य-पालन से पराङ्मुख हो गए। न उन्होंने मधुसूदन ही को कुछ भेजा और न उनके कुटुंब के पालन के लिये उनकी स्त्री ही को कुछ दिया। अतएव उनकी स्त्री की बुरी दशा होने लगी। निरन्न रहने तक की उसे नौबत आ गई। जब उसने पेट पालने का और कोई उपाय न देखा तब लाचार होकर वह भी मधुसूदन के पास इँगलैंड जाने के लिये तैयार हुई। किसी प्रकार मार्ग के ख़र्च का प्रबंध करके, अपने पुत्र और अपनी कन्या को लेकर, मधुसूदन के जाने के एक वर्ष पीछे, वह भी उन्हीं की अनुगामिनी

हुई। वह भी इँगलैंड में मधुसूदन के पास जा पहुँची। मधुसूदन पहले ही से रुपए-पैसे के लिये तंग थे; स्त्री के जाने से उनकी दुर्दशा का ठिकाना न रहा। वह दुर्दशा प्रतिदिन बढ़ने लगी; बढ़ने क्या लगी, 'पांचाली का चीर' हो गई। विलायत का वास, चार मनुष्यों का ख़र्च, प्राप्ति एक पैसे की नहीं। मधुसूदन ने कुछ रुपए बाबू मनोमोहन घोष से उधार लिए। वह भी उस समय बारिस्टरी सीखने इँगलैंड गए थे। कुछ "ग्रेज़ इन" के अधिकारियों से लिए, कुछ किसी से, कुछ किसी से। किसी प्रकार कुछ दिन उन्होंने वहाँ और काटे। कलकत्ते को उन्होंने अनेक करुणोत्पादक पत्र लिखे; परंतु वहाँ से एक पैसा भी न आया। उस समय उनको कोई ४,०००) रुपए अपने प्रबंधकर्ताओं से पाने थे; और उनकी पैतृक संपत्ति से कोई १,५००) रुपए साल की प्राप्ति थी। फिर भी मधुसूदन को विलायत में "भिक्षां देहि" करना पड़ा! "ग्रेज़ इन" के अधिकारियों ने उनका, उनके ऋण और निर्धनता के कारण अपनी संस्था में आना रोक दिया। कुछ काल के लिये मधुसूदन फ्रांस चले गए। वहाँ उनको जेल तक की हवा खानी पड़ी और उनकी स्त्री और बच्चों को अनाथालय का आश्रय लेना पड़ा!

मधुसूदन को सब ओर अंधकार-ही-अंधकार दिखाई देने लगा। जब उन्होंने अपने और अपने कुटुंब के बचने का और कोई मार्ग न देखा तब विद्यासागर का स्मरण किया। उनको उन्होंने एक बड़ा ही हृदय-द्रावक पत्र लिखकर अपने ऊपर दया उत्पन्न करने की उनसे प्रार्थना की और धन की सहायता माँगी। अपनी सब संपत्ति को बेचकर १५,०००) रुपए भेजने के लिये पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर को उन्होंने लिखा और अपने पत्र को इस प्रकार समाप्त किया—

"I hope you will write to me in France and that I shall live to go back to India and tell my countrymen that you are not only Vidyasagar but Karunasagar also."

अर्थात् "मैं आशा करता हूँ कि आप मुझे फ़ांस में पत्र भेजेंगे और मैं भारतवर्ष पहुँचने के लिये और अपने देश-वासियों से यह कहने के लिये कि आप न केवल विद्यासागर हैं बल्कि करुणासागर भी हैं, जीवित रहूँगा।"

मधुसूदन की प्रार्थना सफल हुई। विद्यासागर ने करुणासागर होने का परिचय दिया। उन्होंने मधुसूदन को यथेच्छ द्रव्य भेजकर उनकी अकाल-मृत्यु को टाला। मधुसूदन ने किसी प्रकार बारिस्टरी के व्यवसाय का आज्ञा-पत्र लेकर स्वदेश के लिये प्रस्थान किया।

१८६७ ईसवी के मार्च-महीने में मधुसूदन कलकत्ते लौट आए और हाईकोर्ट में बारिस्टरी करने लगे। परंतु इस व्यवसाय में उनको सफलता न हुई। शुष्क क़ानूनी वाद-प्रतिवाद में उनका चित्त न लगा। कार्य के उद्धार करने का कौशल, जैसा चाहिए वैसा, उन्होंने न दिखलाया। न्यायाधीशों को उनके भाषण से संतोष न हुआ। उनके कंठ का स्वर भी अच्छा न था। इन्हीं कारणों से वह बारिस्टरी में कृतकार्य न हुए। उधर पैतृक संपत्ति के बिक जाने से उससे जो प्राप्ति थी वह बंद हो गई; और इधर बारिस्टरी न चलने से प्राप्ति का दूसरा मार्ग भी बंद हो गया। पुस्तकों की बिक्री से जो कुछ मिलता था उससे मधुसूदन के समान व्ययशील मनुष्य का क्या हो सकता था? क्रमशः उनका जीवन कंटकमय होता गया।

योरप से लौट आने पर ६ वर्ष तक मधुसूदन जीवित रहे। इस मध्यांतर में वह कोई विशेष साहित्य-सेवा न कर सके। उनका समय प्रायः पेट पालने ही के उद्योग में गया। परंतु वह आजन्म

कवि थे ; अतएव इस दुरवस्था के समय में भी कुछ-न-कुछ उन्होंने लिखा ही । एक तो उन्होंने अँगरेज़ी 'ईसाप्स फ़ेबल्स' की मुख्य-मुख्य कथाओं के आधार पर कई नीति-मूलक कविताएँ लिखीं । उनकी रचना उन्होंने १८७० ईसवी में की । उनकी इच्छा इस पुस्तक को समाप्त करके उसे पाठशालाओं में प्रचलित कराने की थी । यदि पुस्तक पूर्ण हो जाती और उसका प्रचार पाठशालाओं में हो जाता तो मधुसूदन का धन-कष्ट कुछ कम हो जाता; परंतु दुर्दैववश पुस्तक ही न समाप्त हुई । ग्रीक कवि होमर-कृत इलियड-नामक काव्य को आदर्श मानकर मधुसूदन ने 'हेक्टर-वध'-नामक एक काव्य भी आरंभ किया था । परंतु इलियड के १२ सर्ग ही तक की कथा का समावेश वह अपने काव्य में कर सके । शेष भाग असमाप्त ही रह गया । 'मायाकानन'-नामक एक नाटक भी उन्होंने लिखना आरंभ किया था । वह भी वह समाप्त न कर सके । उसका जो अंश खंडित था उसे वंग-देश की नाट्य-शाला के अध्यक्षों ने पूर्ण करके मधुसूदन की मृत्यु के पीछे उसे प्रकाशित किया ।

पाँच वर्ष तक मधुसूदन ने हाईकोर्ट में बॉरिस्टरी की । परंतु यथेच्छ प्राप्ति न होने से उनका ऋण बढ़ता ही गया । ऋण के साथ-ही-साथ उनके क्लेश की सीमा भी बढ़ती गई । जब ऋण देने-वालों ने उनको बहुत तंग करना आरंभ किया तब मानसिक यंत्रणाओं से बचने के लिये मधुसूदन मद्य पीने लगे । क्रमशः मद्य की मात्रा बढ़ने लगी । वह यहाँ तक बढ़ी कि उनको अनेक रोग हो गए । उनके मित्रों ने यथासंभव उनकी सहायता की ; परंतु दूसरों के दान पर मधुसूदन का काम कितने दिन चल सकता था ? उनको भोजन-वस्त्र तक का कष्ट मिलने लगा । किसी-किसी दिन निराहार रहने तक की नौबत आने लगी । इस अवस्था को पहुँच-कर भी मधुसूदन ने अपनी उदारता और व्ययशीलता नहीं छोड़ी ।

एक दिन उनका एक मित्र अपने एक परिचित को उनके पास कुछ क़ानूनी राय पूछने के लिये लाया। मधुसूदन ने राय दी; परंतु फ़ीस लेने से इनकार किया। मित्र के मित्र से फ़ीस कैसी ? इस समय मधुसूदन के घर में एक पैसा भी न था। उन्होंने उस मनुष्य से फ़ीस तो न ली; परंतु अपने मित्र से पाँच रुपए अपनी स्त्री के लिये उधार माँगे ! यह उनकी उदारता का जाज्वल्यमान प्रमाण है। उदार तो वह इतने थे; परंतु किसी से ऋण लेकर उसे देना न जानते थे; और ऋण लेकर भी रुपए को पानी के समान बहाते थे। जब उनके नौकर और ऋण-दाता पैसे के लिये उनके द्वार पर, और कभी-कभी घर के भीतर भी, कोलाहल करते थे तब वह अपने कमरे में जाकर जर्मन और इटालियन कवियों की कविता का आस्वाद लेते थे !

कुछ काल में मधुसूदन के रोग ने असाध्य रूप धारण किया। उनकी स्त्री भी, घर की विपन्न अवस्था और रोग आदि कारणों से, निर्बल और व्यथित हो चली। पथ्य-पानी का मिलना भी कठिन हो गया। जिस मधुसूदन ने लड़कपन में राजसी ठाट से अपने दिन काटे उसका वस्त्र-आभूषण और बर्तन आदि गृहस्थी का सामान सब धीरे-धीरे बिक गया ! मधुसूदन की स्त्री का भी रोग बढ़ चला। उनका तो पहले ही से बढ़ा हुआ था। जब मधुसूदन के मित्रों ने देखा कि उनके पास एक पाई भी नहीं है और घर में उनके मुँह में पानी डालनेवाला भी कोई नहीं है तब उन्होंने उनको अलीपुर के अस्पताल में पहुँचाया। वहाँ पहुँचने के दो-तीन दिन पीछे मधुसूदन की स्त्री ने इस लोक से प्रस्थान किया। उसकी मृत्यु का संवाद सुनकर मधुसूदन को जो कष्ट हुआ उसका वर्णन नहीं हो सकता। उनकी जो दुर्दशा हो रही थी वह मानो उनकी अविवेकता का पूरा प्रायश्चित्त न थी; इसीलिये ईश्वर ने शायद

उनको यह पत्नी-वियोग-रूपी दारुण दुःख, मरने के समय, दिया। इस दुःख को उन्हें बहुत दिन नहीं सहना पड़ा। १८७३ ईसवी की २९ जून को मधुसूदन ने भी प्राण-परित्याग किया। ऐसे अद्वितीय बँगला-कवि का विषादांत जीवन समाप्त हो गया!

जिस समय मधुसूदन की मृत्यु हुई, उनके दो पुत्र और एक कन्या थी। ज्येष्ठ पुत्र मिल्टन और कन्या शर्मिष्ठा ने परलोक-गमन किया। परंतु उनके कनिष्ठ पुत्र, अलबर्ट नेपोलियन, इस समय, अफ़ीम के महकमे में कहीं काम करते हैं। मधुसूदन के अनंतर उनके मित्रों ने उनकी संतान के पालन-पोषण तथा शिक्षण इत्यादि का यथोचित प्रबंध किया। उसमें कोई त्रुटि नहीं होने पाई।

मधुसूदन के मरने पर, १५ वर्ष तक, उनकी समाधि इत्यादि का कोई अच्छा प्रबंध नहीं हुआ। परंतु १८८८ ईसवी की पहली दिसंबर को उनकी समाधि का संस्कार होकर उस पर एक स्तंभ खड़ा किया गया। इस कार्य के लिये वंग-देश के अनेक कृतविद्य लोगों ने सहायता की। उस स्तंभ पर मधुसूदन ही की रची हुई कविता खोदी गई। यह कविता, मरने के दो-तीन वर्ष पहले, मधुसूदन ही ने लिखी थी। वह इस प्रकार है—

"दाँड़ाओ पथिक-वर, जन्म यदि तव
वंगे! तिष्ठ क्षण-काल! ए समाधि-स्थले
(जननीर कोले शिशु लभये येमति
विराम) महीर पदे महानिद्रावृत
दत्तकुलोद्भव कवि श्रीमधुसूदन!
यशोरे सागरदाँड़ी कवतक्ष-तीरे
जन्म-भूमि, जन्म-दाता दत्त महामति
राजनारायण नामे, जननी जान्हवी!

माइकेल मधुसूदनदत्त"

इसका शब्दार्थ, हिंदी में, पंक्ति-प्रति-पंक्ति, इस प्रकार होगा—

"खड़े हो, पथिक-वर, जन्म यदि तव
वंग-देश में, ठहरो थोड़ी देर ! इस समाधि-स्थल पर
(माता की गोद में शिशु प्राप्त करता है जिस प्रकार
विश्राम) पृथ्वी के पद में (है) महानिद्रावृत—
दत्तकुलोद्भव कवि श्रीमधुसूदन !
यशोर में सागरदाँड़ी कवतक्ष-तीर
जन्म-भूमि, जन्म-दाता दत्त महामति
राजनारायण नाम, जननी जान्हवी।"

मधुसूदन का समाधि-स्तंभ स्थापित करके उनके देश-वासियों ने अपनी कृतज्ञता प्रकट की है। जिसने वंग-भाषा को अपनी अप्रतिम कविता से इतना अलंकृत किया उसका, इस प्रकार, मरणोत्तर आदर होना बहुत ही उचित हुआ। यों तो, जब तक बँगला-भाषा का अस्तित्व है तब तक मधुसूदन की यशःपताका, सब काल, वंग-देश में फहराती रहेगी। उनके लिये समाधि-स्तंभ आदि की विशेष आवश्यकता नहीं। उनका समाधि-स्तंभ और उनकी प्रतिमा (Statue) उनके ग्रंथ ही हैं।

[जुलाई-अगस्त, १९०२



स्वर्गीय राजा रामपालसिंह (कालाकाकर)

राजा रामपालसिंह

यह एक ऐसे भूमि-स्वामी का चरित है जिसे अपनी मातृभाषा से निरतिशय प्रेम है ; जिसने, इस देश की बात जाने दीजिए, इँगलैंड की राजधानी लंदन से हिंदी में अख़बार निकालकर बहुत दिनों तक उसे प्रचलित रक्खा ; जो हज़ारों रुपए ख़र्च करके, कोई १८ वर्ष से, एक दैनिक पत्र हिंदी में निकाल रहा है ; और जिसकी गति हिंदी के साथ ही अँगरेज़ी, फ़ारसी और संस्कृत में भी है । श्रीमान् होकर—राजा होकर—जो पुरुष इतना विद्या-व्यसनी है और जो अपनी देश-भाषा को इतनी पूज्य दृष्टि से देखता है, उसका चरित केवल इन्हीं गुणों के कारण सर्वथा लेख्य, पाठ्य और विचारणीय है । यों तो बड़े-बड़े महात्माओं में भी दोष देखे जाते हैं ; ऋषियों तक के चरित निर्दोष नहीं ; ईश्वर तक को कोई-कोई बुरा-भला कहते हैं । परंतु इससे क्या ? हमको केवल अनुकरणीय बातों का अनुकरण करना चाहिए ; उन्हीं से हमको लाभ उठाना चाहिए । राजा रामपालसिंह में तो अनेक गुण अनुकरणीय हैं ।

अवध में बिसेन-वंश के क्षत्रियों की बहुत अधिकता है । रायबरेली के ज़िले में, हमारी जन्म-भूमि के पास, दूर-दूर तक, अनेक गाँव ऐसे हैं जिनमें केवल बिसेन-क्षत्रियों की बस्ती है । रायबरेली, सुलतानपुर, प्रतापगढ़, गोंडे और बहराइच में, सब मिलाकर, कोई चौदह-पंद्रह बिसेन-वंशी तअल्लुक़ेदार हैं । प्रतापगढ़ ज़िले के अंतर्गत कालाकाँकर (रामपुर) और धारूपुर के तअल्लुक़े-

दार राजा रामपालसिंह बिसेन-वंश ही के क्षत्रिय हैं। उनकी राजधानी कालाकाँकर है। यह स्थान गंगा के बिलकुल तट पर है। कालाकाँकर जाने के लिये इलाहाबाद के पास सिराथू के रेलवे-स्टेशन पर उतरना पड़ता है। वहाँ से कालाकाँकर थोड़ी ही दूर है।

अवध का बिसेन-वंश मझौली के क्षत्रियों की एक शाखा है। ११९३ ईसवी के लगभग सूबे अवध के मानिकपुर-नगर में राठौर-वंशी मानिकचंद-नामक राजा राज्य करता था। माँड़ा और विजयपुर के गहरवार-राजे इसी वंश के हैं। जोधपुर, बीकानेर और रतलाम इत्यादि के शासन-कर्ता राजे-महाराजे भी इसी वंश से उत्पन्न हैं। मानिकचंद के भाई का नाम जयचंद था, जो क़न्नौज का महाराजा था। उसके एक कन्या थी। उसका विवाह मझौली के तत्कालीन राजा के रायहोम-नामक पुत्र से हुआ। इस उपलक्ष्य में रायहोम को डेरवा का तअल्लुक़ा मिला। अतएव उसके वंशज वहीं, अवध में, रहने लगे। कालांतर में इस तअल्लुक़े के तीन भाग हो गए—डेरवा, धिंगवस और रामपुर। राजा रामपालसिंह रामपुर की रियासत के अधिकारी हैं। गहरवार क्षत्रिय क़न्नौज के प्राचीन और प्रसिद्ध राठौर-राजवंश के अंकुर हैं। अतएव राजा साहब के पूर्वजों का मातृ-वंश भी एक बहुत ही प्रतिष्ठित घराने से संबंध रखता है।

राजा रामपालसिंह के पिता का नाम लाल प्रतापसिंह और पितामह का राजा हनुमंतसिंह था। कालाकाँकर का कोट राजा हनुमंतसिंह ने, १८३९ ईसवी में, बनवाया था। उस समय उनकी राय की पदवी थी। परंतु १८४९ ईसवी में अवध के बादशाह ने उनको राजा माना। तब से वह राजा कहलाए जाने लगे। अवध में जब पहले-पहल ग़दर हुआ तब राजा हनुमंतसिंह अँगरेज़ों के पक्ष में थे। उन्होंने उनकी बहुत कुछ सहायता भी की थी;

यहाँ तक कि उस समय अपने ज़िले के समस्त अँगरेज़ों की रक्षा उन्होंने की थी। इन अँगरेज़ों में अवध के भूतपूर्व चीफ़ कमिश्नर जनरल बैरो भी थे। इन सबको राजा साहब ने इलाहाबाद सुरक्षित पहुँचा दिया था। परंतु पीछे से उनका मन देश-भाइयों के समझाने और ग्लानि दिलाने से कि उन्होंने अँगरेज़ों की सहायता की जो उनके देश-भाई न थे, फिर गया। इसलिये उन्होंने अँगरेज़ों के विपक्ष खड्ग उठाया और बड़ी वीरता से उनके साथ युद्ध किया। इन्हीं युद्धों में से, सुलतानपुर ज़िले के चाँदा स्थान में, राजा हनुमंतसिंह के ज्येष्ठ पुत्र, लाल प्रतापसिंह, ने एक युद्ध में पतन पाया। अंत में राजा साहब ने अँगरेज़ों की अधीनता स्वीकार करके अपनी राजनीतिज्ञता का परिचय दिया। इसका फल यह हुआ कि ब्रिटिश गवर्नमेंट ने राजा हनुमंतसिंह की विपक्षता को भुला दिया और उनको उनकी रियासत का पूर्ववत् अधिकारी बना रहने दिया। यही न्याय्य भी था।

राजा रामपालसिंह लाल प्रतापसिंह के एक-मात्र पुत्र हैं। इनके पिता का परलोक-वास इनकी शैशवावस्था ही में हो गया था। अतएव इनकी शिक्षा का प्रबंध इनके पितामह, राजा हनुमंतसिंह, ही के द्वारा हुआ और समुचित हुआ। सुनते हैं, राजा साहब लड़कपन में बड़े ही चंचल-स्वभाव थे। उनकी बुद्धि में तभी से तीव्रता दृग्गोचर होने लगी थी। उन्होंने बहुत छोटी उम्र में विद्याभ्यास आरंभ किया और सात ही वर्ष के वय में नागरी-अक्षरों में प्रवीणता प्राप्त कर ली। हिंदी वह भली भाँति लिख-पढ़ लेने लगे। तदनंतर उन्होंने फ़ारसी पढ़ना आरंभ कर दिया और १२ वर्ष के वय में उसे भी बहुत कुछ सीख लिया। १८ वर्ष की उम्र तक उन्होंने संस्कृत और अँगरेज़ी का अभ्यास किया। इन छः वर्षों के परिश्रम से संस्कृत उनकी समझ में आने

लगी और अँगरेज़ी वह बोल लेने लगे। उनको इतना होनहार देखकर राजा हनुमंतसिंह ने, अपने जीते-ही-जी, विना किसी शर्त के, अपने तअल्लुक़े का अधिकार दे दिया। अर्थात् अपने जीते-ही-जी उन्हें राजा बना दिया। उनकी इस अधिकार-प्राप्ति का दूसरा कारण यह था कि राजा हनुमंतसिंह की आज्ञा को शिरोधार्य करके, अपने ६ वर्ष के पुत्र और युवा स्त्री को छोड़, उनके पिता लाल प्रतापसिंह ने रण-भूमि में अपने प्राण दिए थे।

इस समय एक बात ऐसी हुई जिससे राजा साहब के पितामह और कुटुंबियों का मन उनसे फिर गया। इसका कारण राजा साहब का धर्म-विश्वास था। उन्होंने अपना सिद्धांत, युवावस्था के आरंभ ही में, "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" मान लिया; और रूढ़ि तथा शास्त्र की आज्ञाओं से मिला हुआ हिंदू-धर्म, जैसा सर्व-साधारण को मान्य है, त्याज्य समझा। उन्होंने अपनेको अद्वैत-वादी बनाया और रूढ़ि को बिलकुल ही तुच्छ प्रकट किया। फल यह हुआ कि उनके पितामह की सारी सहानुभूति उन पर से जाती रही। लोग भी उनको कुदृष्टि से देखने लगे। राजा हनुमंत-सिंह तो उन पर बहुत ही कुपित हुए। 'सिंह' तो वह यों भी थे; अब पौत्र के साथ नृ-सिंह का-जैसा व्यवहार करने लगे। उनका क्रोध शांत करने के लिये युवा राजा ने तअल्लुक़े का अधिकार, उनके जीवनांत तक के लिये, उन्हें लौटा दिया और गवर्नमेंट के दिए हुए ऑनरेरी असिस्टंट मैजिस्ट्रेट के पद को स्वीकार कर लिया। इस पद से संबंध रखनेवाली दो परीक्षाएँ भी राजा साहब ने 'पास' कर लीं। राजा साहब के धर्म-संबंधी विचारों के कारण उनके कुटुंब ने उन्हें छोड़ दिया। उधर गवर्नमेंट के अधिकारियों ने भी उनसे कुछ उदासीनता का व्यवहार आरंभ किया। इन कारणों से राजा साहब का मन यहाँ रहने से उचाट हो गया। उन्होंने

विलायत जाना चाहा । यह बात प्रकट होने पर उनके इष्ट-मित्रों, कुटुंबियों और संबंधियों ने उन्हें बहुत कुछ समझाया-बुझाया और जाने से रोका । परंतु राजा साहब ठहरे दृढ़-प्रतिज्ञ ; उन्होंने किसी की न सुनी । धर्म-च्युति की उन्होंने ज़रा भी पर्वा न की । और लोग जिसे धर्म समझते हैं उसे उन्होंने धर्म ही न समझा । फिर धर्म-च्युति कैसी ? राजा साहब के साथ विलायत जाने के लिये उनकी रानी, स्वभावकुँअरि, भी तैयार हुईं । वह रीवाँ के राजवंश से उत्पन्न थीं । उनको भी लोगों ने जाने से बहुत रोका ; परंतु प्रयत्न व्यर्थ हुआ । अंत में युवक राजा और उनकी रानी, दोनों ही, विलायत के लिये चल दिए ।

सुनते हैं, इँगलैंड पहुँचकर राजा रामपालसिंह ने विद्योपार्जन में विशेष मनोनिवेश किया । वहाँ उन्होंने फ़्रेंच और जर्मन भाषाएँ सीखीं ; गणित-शास्त्र का भी ज्ञान बढ़ाया ; और तर्क-शास्त्र में भी प्रवेश किया । "इंडियन एसोसिएशन" नाम की समिति के वह सभासद हो गए और उसके द्वारा वह इस देश के हित-साधन के लिये यथाशक्ति यत्न भी करते रहे । इस समिति या सभा के उपसभापति आप ही थे । भारतवर्ष से गए हुए जो युवक वहाँ डॉक्टरी और बारिस्टरी आदि सीखते थे उनको राजा साहब यथा-शक्ति सहायता देते थे, सत्परामर्श देते थे और समय-समय पर उनसे मिलते रहते थे । बड़े-बड़े प्रतिष्ठित और उच्च-पदस्थ अँगरेज़ों से आपकी जान-पहचान हो गई थी । आप सब कहीं आते-जाते थे । सम्मान्य समाज में आपका आवागमन अबाध था । कभी-कभी वह अपने यहाँ खाना और नाच-तमाशे भी कराते थे जिनमें उनके परिचित अनेक साहब लोग आते थे । वहाँ सभा-समितियों में राजा साहब, इस देश के संबंध में, कभी-कभी व्याख्यान भी देते थे ।

इँगलैंड में रहकर राजा साहब ने एक काम बहुत ही अच्छा किया। वहाँ से उन्होंने "हिंदोस्थान" नाम का एक त्रैमासिक पत्र हिंदी, उर्दू और अँगरेज़ी में निकालना आरंभ किया। उसमें भारतवर्ष-विषयक अच्छे-अच्छे लेख निकलते थे। इस पत्र ने कई अँगरेज़ों के हृदय में हिंदी-उर्दू का प्रेम उत्पन्न कर दिया। यह पत्र १८८३ से १८८५ ईसवी तक निकलता रहा। इसके द्वारा भारतवासियों के दुःख और उनकी आवश्यकताओं को प्रकाशित करने तथा उनके हक़ों की रक्षा करने के प्रयत्न में राजा साहब ने कोई त्रुटि नहीं की। इँगलैंड में राजा साहब की प्रसिद्धि यहाँ तक हुई कि "लंदन फ़िगरो"-नामक समाचार-पत्र ने उनका संक्षिप्त जीवन-चरित प्रकाशित किया।

विलायत में राजा साहब पर एक बहुत बड़ी विपत्ति आई। उनकी प्रियतमा रानी का वहीं प्राणांत हो गया। रानी साहबा की इच्छा थी कि यदि उनके जीवन का अंत इँगलैंड ही में हो जाय तो उनकी अंत्येष्टि क्रिया भारतवर्ष में यथाविधि की जाय। उनकी इस इच्छा को राजा साहब ने पूर्ण किया। रानी साहबा के निष्प्राण शरीर को, रासायनिक प्रक्रिया द्वारा, राजा साहब ने रक्षित रक्खा। उन्होंने उसे इस प्रकार सुरक्षित करके एक लंबे संदूक़ में रख दिया और उसके ऊपर एक काँच लगवा दिया। इस काँच से रानी साहबा का मुख देख पड़ता था। पत्नी-वियोग से राजा साहब को अपार दुःख हुआ। जब वह इस देश को लौटे तब अपनी रानी के शरीर को लेते आए। यहाँ भागीरथी के तट पर उसका यथाविधि दाह हुआ।

इँगलैंड में राजा साहब की इच्छा पार्लियामेंट (हौस ऑव् कामन्स) में प्रवेश पाने की थी। परंतु यहाँ से राजा हनुमंतसिंह का मृत्यु-वार्ता-सूचक संवाद पाने पर उनको वह इच्छा छोड़ देनी

पड़ी। आठ-नौ वर्ष विलायत में रहकर वह इस देश को लौट आए और अपने राज्य का अधिकार प्राप्त किया।

रियासत का समुचित प्रबंध करके राजा साहब दुबारा इँगलैंड गए। परंतु इस दफ़े वह वहाँ बहुत समय तक न रह सके। उनकी अनुपस्थिति में उनके राज्य को हानि पहुँचने लगी। इस कारण वह शीघ्र ही वहाँ से लौट आए। इस बार आपके विलायत जाने में लिखने लायक़ एक बात यह हुई कि आपने वहाँ एक अँगरेज़ मेम से शादी कर ली और उसे यहाँ लेते आए। यह मेम साहबा रानी स्वभावकुँअरि की परिचित स्त्रियों में थीं। जब राजा साहब पहली दफ़े विलायत गए थे तब रानी साहबा ही के द्वारा इनसे और राजा साहब से मित्रता हुई थी। खेद की बात है कि राजा साहब का संबंध इन मेम साहबा से बहुत दिनों तक नहीं रह सका। १८९७ में, मेम साहबा हैज़े से पीड़ित होकर राजा साहब को सदा के लिये अपना वियोगी बना गईं। इस समय मेम साहबा का पद जिस रमणी-रत्न को मिला है उनका नाम राधा-देवी है। राजा साहब ने अपने वसीयतनामे में उनके लिये, अपने अनंतर, २५०) रुपए मासिक वेतन की योजना कर दी है। इसके सिवा भोजन, स्थान, वाहन और सेवक आदि भी उनको मिलेंगे।

राजा रामपालसिंह कई बार प्रांतिक कौंसिल में प्रजा की ओर से मेंबर रह चुके हैं। आपके स्वभाव में स्वतंत्रता की मात्रा बहुत ही अधिक है। जब तक आपने कौंसिल की मेंबरी की तब तक दूसरों के मत की ज़रा भी पर्वा न करके, जो कुछ आपने उचित समझा उसे कहने और करने में बिलकुल संकोच और भय नहीं किया। बहुत दिनों तक आप नेशनल कांग्रेस (जातीय महासभा) के पक्षपाती रहे हैं। उस समय उसकी सफलता के लिये आप सदैव दत्तचित्त रहते थे; समय-समय पर आप लेख लिखते थे;

वार्षिक दौरा करके उससे होनेवाले लाभों को, व्याख्यान द्वारा, समझाते थे ; और चंदा तक वसूल करते फिरते थे। परंतु कुछ दिनों से कांग्रेस के नायकों से आपका मेल नहीं मिलता। इसलिये आप पृथक् हो गए हैं; परंतु ऐसा होने से आपकी देश-प्रीति कम नहीं हुई। वह वैसी ही बनी हुई है; किंबहुना, पहले से अधिक हो गई हो तो आश्चर्य नहीं।

राजा रामपालसिंह में सबसे अधिक प्रशंसनीय गुण उनका मातृभाषा-प्रेम है। इसका मूर्तिमान् उदाहरण उनका दैनिक पत्र "हिंदोस्थान" है। इस पत्र को वह पहले लंदन से, तीन भाषाओं में, निकालते थे। जब वह स्वदेश को लौट आए तब, १८८५ ईसवी के नवंबर से, वह इसे कालाकाँकर से निकालने लगे। तब से यह बराबर निकल रहा है। हिंदी के साहित्य-संसार में अभी तक यही एक दैनिक पत्र था। गत महीने से अब अजमेर का "राजस्थान-समाचार" भी दैनिक हो गया है। "हिंदोस्थान" के प्रति अंक में एक मुख्य लेख रहता है। इस पत्र के द्वारा राजा रामपालसिंह राजनीतिक, सामाजिक और साहित्य-विषयक, प्रायः सभी विषयों पर, अपने भाव निर्भय होकर स्वतंत्रता-पूर्वक प्रकट करते हैं। इसके संपादक स्वयं राजा साहब हैं। सहायता के लिये उन्होंने सहकारी संपादक भी रक्खे हैं ; परंतु उसके लेखों का उत्तरदायित्व उन्हीं पर है। इसके अतिरिक्त राजा साहब कई वर्षों से "हिंदोस्थान" की एक अँगरेज़ी आवृत्ति जुदा ही निकाल रहे हैं। वह सप्ताह में तीन बार निकलता है। उसके भी संपादक आप ही हैं। उसके लिये उन्होंने एक अँगरेज़ सहकारी संपादक रक्खा है। आपका मत है कि जो जिसकी जन्म-भाषा है उसमें वह औरों की अपेक्षा अधिक योग्यता से लेख लिख सकता है। इसलिये अँगरेज़ी "हिंदोस्थान" के लिये उन्होंने अँगरेज़ ही की योजना की है। हिंदी

"हिंदोस्थान" का टाइप अभी तक अच्छा न था। इस दोष को भी राजा साहब ने दूर कर दिया है। अब उसके लिये नया टाइप आपने मँगवा लिया है। जब से यह पत्र इस नए टाइप में छपने लगा है तब से इसमें चारुत्व आ गया है। ये दोनों पत्र कालाकाँकर से ही निकलते हैं। इनके निकलने में प्रति वर्ष राजा साहब को बहुत कुछ हानि उठानी पड़ती है। परंतु उनका अलौकिक मातृभाषा-प्रेम और उनका अलौकिक देशानुराग इस हानि को कुछ न समझकर बराबर, उत्साह-पूर्वक, इन पत्रों को प्रकाशित कराने में राजा साहब को उद्युक्त किए हुए है। राजा साहब के लिये यह विशेष प्रशंसा की बात है। हम देखते हैं कि हिंदी-भाषा-भाषी अनेक बड़े-बड़े राजा और धनी लोग इस देश में हैं; परंतु देश-हित और स्वभाषोत्कर्ष के निमित्त वे एक फूटी कौड़ी तक नहीं ख़र्च करते। यों, विलासिता अथवा किसी अनुपयोगी चंदे में वे चाहे लाखों रुपए दे डालें।

राजा साहब कविता भी करते हैं—हिंदी और फ़ारसी दोनों में। उनकी कविता कभी-कभी "हिंदोस्थान" में प्रकाशित होती है। समस्यापूर्ति-प्रकाश-नामक पुस्तक में आपकी की हुई समस्यापूर्तियों का संग्रह है। इस संग्रह में कोई-कोई पूर्तियाँ बहुत अच्छी हैं। फ़ारसी में बात-चीत करने के लिये उन्होंने ख़ास फ़ारस से फ़ारसी के एक विद्वान् को अपने आश्रय में रक्खा है। और संस्कृत के भी कईएक पंडित आपके यहाँ हैं। राजा साहब ने अपने विलायत-प्रवास का वर्णन अँगरेज़ी में लिखकर प्रकाशित किया है। यह वर्णन विलायत से दूसरी बार लौटने पर आपने लिखा है। आप एक और भी पुस्तक बना रहे हैं। उससे अँगरेज़ी पढ़नेवालों को बहुत सहायता मिलेगी। उसका कुछ भाग प्रकाशित भी हो चुका है।

राजा साहब के हिंदी "हिंदोस्थान" में जिस प्रकार की भाषा रहती है उस पर लोग कभी-कभी आक्षेप करते हैं। भाषा पर नहीं,

किंतु लिपि-प्रणाली पर कहना चाहिए। कितना के स्थान में 'क्यतना' और जितना के स्थान में 'ज्यतना' आदि प्रयोग जो "हिंदोस्थान" में रहते हैं। वे बहुधा लोगों को अच्छे नहीं लगते। इस प्रकार शब्द-योजना करने में राजा साहब शायद अपने ज़िले की ख़ास उच्चारण-पद्धति का अनुसरण करते हैं। उनका शायद यह भी मत है कि जो शब्द जैसा बोला जाय वह वैसा ही लिखा भी जाय। ऐसा ही चाहिए भी। परंतु लिपि के विषय में सर्व-सम्मत-प्रणाली ही को ग्रहण करना चाहिए और सार्वदेशिक उच्चारण के अनुसार ही शब्दों को लिखना चाहिए।

राजा साहब को संस्कृत और फ़ारसी के सामयिक पद्य कहने और लिखने में अच्छा अभ्यास जान पड़ता है। जब आप किसी के लेख, व्याख्यान अथवा पुस्तक की समालोचना करते हैं तब कभी-कभी फ़ारसी के चुटीले मिसरों का प्रयोग करते हैं। कभी-कभी आप हिंदी की कहावत भी लिख देते हैं। जान पड़ता है, आपको रघुवंश का पहला सर्ग ख़ूब याद है। क्योंकि जब आप कभी व्याख्यान देते हैं अथवा किसी से राजनीतिक विषय पर बात-चीत करते हैं तब उसके दो-एक पद्यों का प्रमाण अवश्य दे देते हैं। नीचे के दो श्लोक हमने कई बार सुने हैं—

"प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्;
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः।"
"प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि;
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः।"

और सचमुच ये श्लोक राजों के याद करने ही लायक़ हैं।

राजा साहब की रियासत दो भागों में विभक्त है। एक उनकी पैतृक रियासत; दूसरी वह जिसे उन्होंने स्वयं प्राप्त किया है। उन्होंने अपने तअल्लुक़े का ऐसा अच्छा प्रबंध किया है कि जहाँ

तक हम जानते हैं, उनकी प्रजा सुखी है। सुप्रबंध के कारण राजा साहब की आमदनी भी बढ़ गई है। यही कारण है जो वह नई संपत्ति संपादन करने में समर्थ हुए हैं।

राजा रामपालसिंह के कोई संतति नहीं है। इसलिये वह चाहते हैं कि अपने अनंतर अपनी ज़मींदारी का प्रबंध अपनी इच्छा के अनुसार कर जायँ। वह अपने भतीजे लाल रमेशसिंह को अपनी पैतृक संपत्ति का अधिकारी नहीं बनाना चाहते। राजा साहब की राय है कि काम वह करना चाहिए जिससे सांसारिक जनों का अधिक उपकार हो। इसीलिये वह अपनी इच्छा के अनुसार अपनी दोनों प्रकार की ज़मींदारियों का प्रबंध कर जाना चाहते हैं। परंतु फल इसका यह हुआ है कि इस समय यह झगड़ा विलायत के प्रिवी-कौंसिल में पेश है। राजा साहब की निज प्राप्त संपत्ति सर्वथा उन्हीं की है; उसका वह जैसा चाहें प्रबंध कर सकते हैं अथवा जिसे चाहें दे डाल सकते हैं। परंतु पैतृक संपत्ति के विषय में उनकी यह काररवाई उनके मृत चचेरे भाई लाल रामप्रसादसिंह को पसंद नहीं आई। इसलिये उन्होंने प्रतापगढ़ के सबजज के यहाँ इस बात की नालिश कर दी। इसमें राजा साहब की जीत हुई। इसकी अपील जब जुडीशियल कमिश्नर के यहाँ हुई तब सबजज का फ़ैसला उलट दिया गया। अतएव अब राजा साहब ने इस मुक़द्दमे को प्रिवी-कौंसिल में पहुँचाया है। इस बीच में लाल रामप्रसादसिंह का शरीरांत हो गया। इसलिये यह झगड़ा अब उनके पुत्र लाल रमेशसिंह और राजा साहब के बीच चल रहा है। लाल रमेशसिंह भी पढ़े-लिखे पुरुष हैं। उनको भी विद्या से अनुराग है। अतएव यदि कालाकाँकर की पुरानी तअल्लुक़ेदारी के वह अधिकारी हुए तो आशा है, उसका वह भी दुरुपयोग न करेंगे।

राजा साहब का खोला हुआ, कालाकाँकर में, उनके पितामह के

नाम से एक स्कूल है। आपने कालाकाँकर और धारूपुर में औषधालय भी खोल रक्खे हैं। आप ही के उद्योग से कालाकाँकर में तार-घर भी है। काश्तकारों को थोड़े ब्याज पर रुपया उधार देने के लिये, कुछ दिनों से, आपने देहात में बैंक भी खोले हैं।

गत वर्ष "हिंदोस्थान" में राजा साहब का वसीयतनामा प्रकाशित हुआ था। उसे पढ़कर हम बहुत प्रसन्न हुए हैं। उसमें राजा रामपालसिंह अपने आश्रितों और मुसाहबों को भी नहीं भूले। सबके लिये कुछ-न-कुछ जीविका का प्रबंध, आपने अपने अनंतर, करने की योजना दी है। इस वसीयतनामे में सबसे अच्छी बात यह है कि राजा साहब ने "हिंदोस्थान" के चिरकालिक जीवन का प्रबंध कर दिया है। आपने कालाकाँकर के हनुमत्-स्कूल को कॉलेज किए जाने तक की योजना भी की है। यह आपके विद्यानुराग का प्रखर प्रमाण है। यदि प्रिवी-कौंसिल के विचाराधीन मुक़द्दमे में उनको सफलता न हुई, तो भी उनकी बाहूपार्जित संपत्ति से उनके पीछे उनके अनेक अभीष्ट कार्य हो सकेंगे।

राजा साहब केवल तअल्लुक़ेदार ही नहीं हैं। धनोपार्जन के लिये आपने और भी युक्तियों का अवलंबन किया है। आपने रेशम के कीड़े पाल रक्खे हैं। उनसे रेशम उत्पन्न कराया जाता है। उसके रेशमी वस्त्र भी आपके कारख़ाने में बनते हैं। आप व्यापार और कला-कौशल के भी पक्षपाती हैं। पशु तक आपने पाल रक्खे हैं; अँगरेज़ी पशु-शास्त्र के अनुसार उनका पालन-पोषण होता और उनकी वृद्धि की जाती है। यहाँ तक कि आपने इलाहाबाद में, स्टेशन के पास, एक होटल तक खोल रक्खा है। आप नील की खेती और ग़ल्ले का व्यापार भी करते हैं।

राजा रामपालसिंह अपनी जाति के बड़े ही हितैषी हैं। राजपूत-महासभा के आप आधार-स्तंभ हैं। उसे आप बहुत सहायता

देते हैं। राजपूत-महासभा के लिये, आगरे के राजपूत-बोर्डिंग-हाउस और स्कूल के लिये, तथा "राजपूत"-पत्र के लिये आपने आज तक हज़ारों रुपए दिए हैं। और अब तक बराबर देते जाते हैं।

राजा साहब के धार्मिक विचारों का उल्लेख एक जगह, ऊपर, हो आया है। आपके सामाजिक विचार भी नए प्रकार के हैं। बहुत-सी पुरानी बातें आपको पसंद नहीं। आप समुद्र-यात्रा के समर्थक हैं; विधवा-विवाह के समर्थक हैं; और बाल-विवाह के बहुत ख़िलाफ़ हैं।

राजा रामपालसिंह, और राजों की तरह, अपने समय को व्यर्थ नहीं खोते। और काम करने के अनंतर जो समय उनको मिलता है उसमें वह व्यायाम करते हैं; शिकार खेलने जाते हैं; और घोड़े अथवा पैरगाड़ी पर सवार होकर कोसों घूमने निकल जाते हैं। यह बहुत अच्छी बात है। इससे शरीर नीरोग रहता है। राजा साहब स्वास्थ्य-रक्षा के नियमों को भली भाँति जानते हैं।

हमने सुना है, राजा साहब को संगीत-विद्या से भी बहुत अनुराग है। शतरंज के तो वह अद्वितीय खिलाड़ी हैं। कहते हैं, आज तक उनको किसी ने शतरंज में मात ही नहीं किया। इँगलैंड के खिलाड़ियों ने "अटोम्यटन"-नामक एक यंत्र बनाया है। वह स्वयं शतरंज खेलता है। उसको हरा देना बड़ा कठिन काम है। परंतु, सुनते हैं, राजा साहब ने एक बार उसे भी परास्त कर दिया!

हम राजा रामपालसिंह के गुणों की ओर देखते हैं। उनमें अनेक बातें अनुकरणीय हैं। वह आदर्श भूमि-स्वामी हैं, वह मातृभाषा के सच्चे प्रेमी हैं; वह क्षत्रियों के विशेष सहायक और हितचिंतक हैं। स्वदेश-प्रीति भी उनमें कम नहीं है; व्यापार-कौशल भी उनमें कम नहीं है; विद्यानुराग भी उनमें कम नहीं है। फिर और क्या चाहिए?

[मई, १९०४

(४)

कविवर लछीराम

अयोध्या के प्रसिद्ध कवि कविवर लछीराम का शरीरांत हो गया। भादों बदी ११, मंगल, संवत् १९६१ को, सरयू के किनारे, अयोध्या में, उन्होंने इस लोक से प्रस्थान कर दिया।

लछीरामजी ब्रह्मभट्ट थे। उनकी कविता पर प्रसन्न होकर अयोध्या-नरेश, महाराजा मानसिंह, ने उनको अपने यहाँ रख लिया था। महाराजा मानसिंह के न रहने पर वर्तमान अयोध्या-नरेश ने भी उनका पूर्ववत् आदर बना रक्खा। अतएव यह वहीं रहे। परंतु यद्यपि वह अयोध्याधीश के कवि थे तथापि और-और राज-दरबारों में भी जाया करते थे। बस्ती के राजा शीतलाबख़्श ने चरथी नाम का एक गाँव, हाथी और वस्त्राभूषण इत्यादि देकर लछीरामजी का सत्कार किया था। मल्लापूर के राजा मुनीश्वरसिंह और गिद्धौर के महाराजा रावणेश्वरप्रसादसिंह भी उनका सम्मान करते थे; उनकी कविता सुनते थे; और समुचित बिदाई देते थे। महाराजा टीकमगढ़ (ओरछा) और महाराजा दरभंगा तक उनको मानते थे। श्रीनगर-नरेश श्रीमान् राजा कमलानंदसिंह के पास लछीरामजी बुढ़ापे में गए थे। राजा साहब के नाम पर लछीरामजी ने "कमलानंदकल्पतरु"-नामक ग्रंथ बनाया। उस ग्रंथ-रचना के उपलक्ष्य में कविराजजी को हज़ारों रुपए नक़द और बहुमूल्य वस्त्राभरण देकर श्रीनगर-नरेश ने अपनी उदारता और गुणग्राहकता दिखलाई।

कमलानंदकल्पतरु के सिवा चरणचंद्रिका, रामचंद्रभूषण और सरयूलहरी इत्यादि और भी कई ग्रंथ उन्होंने बनाए हैं। वह

पुरानी प्रथा के कवि थे। अलंकार-शास्त्र में खूब प्रवीण थे। कविता भी उनकी बहुत अच्छी होती थी।

लछीरामजी अयोध्या में रहते थे। वहीं उन्होंने एक राम-मंदिर बनवाया; कई कुएँ खुदवाए; और कई बाग़ भी लगवाए। अपनी जाति के बहुत-से लड़कों के पढ़ने का उन्होंने प्रबंध कर दिया। सुनते हैं, दो-एक पंडित भी उन्होंने पढ़ाने के लिये रक्खे थे और एक पाठशाला भी खोली थी। उनका एक पुत्र आठ-नव वर्ष का है। वह और उसकी मा अयोध्या में हैं।

लछीरामजी के शिष्य, यज्ञराज कवि, ने अपने गुरु, कविवरजी, के शोक में एक कविता भेजी है। कविवरजी के विषय में हमने जो कुछ लिखा है वह उसी कविता के आधार पर है। लछीरामजी के चित्र से मालूम होगा कि यद्यपि आप पुराने ढंग के कवि थे और पुराने ढंग की पगड़ी पहनते और लाठी बाँधते थे तथापि पुरानी चाल के जूतों की जगह आप बूट पहनते थे। नई चीज़ों से बूढ़े कविवर भी नहीं बचे।

अब हम यज्ञराज कवि की शोकप्रकाश-नामक कविता का कुछ अंश नीचे देते हैं—

श्रीकविबर लछिराम हाय बैकुंठ सिधारे ;
यज्ञराज तव शिष्य सनत दुख लह्यो अपारे।
बैठि गयो करि हाय कहूँ कछु सूझत नाहीं ;
किधौं साँच कै झूठ, हाय बूझौं क्यहि पाहीं ?
मुख ते कढ़ै न बैन, नयन आँसू बह झर-झर ;
आवन लगी उसाँस, गात काँपै सब थर-थर।
होय नहीं मन धीर, पीर उर असहन बाढ़ी ;
भाँति-भाँति की उठै चित्त में चिंता गाढ़ी।
जीवन जानि अनित्य लह्यो धीरज मन माहीं ;
लछीराम को मरन सोचबे लायक नाहीं।

मरन सोचिबे जोग जाहि मारै भुजंग डसि ;
पावक जरि, जल डूब, मरै विष खाय, मारि असि।
सुजस नाम विख्यात नहीं जाको जग माहीं ;
मानुष-तन जो पाय सुकृत कीन्हों कछु नाहीं।
यहि बिधि के सब जीव मरे पर जमपुर जाहीं ;
इन सबको सुनि मरन साधुजन अति पछिताहीं।
सरस सकल साहित्य ईस-कबि ताहि पढ़ायो ;
रचना रुचिर कवित्त माहिं बहु प्रेम बढ़ायो।
मानसिंह द्विजदेव जगत बिख्यात अवधपति ;
सुनि कबित्त दै दान रीझि सम्मान कियो अति।
श्रीयुत सबगुनधाम श्रीनगर को सिरताजा ;
कमलानंद 'सरोज' सराहत सुकवि-समाजा।
बूढ़ेपन में मिल्यो आय इनसों कबिराजा ;
करत बारतालाप दुहुन कों दोउ सुख साजा।
भूपति कमलानंद दान दीन्हों बहुतेरो ;
अंकमालिका भेंटि कियो सनमान घनेरो।
एक-एक रचि ग्रंथ इते भूपन को दीन्हों ;
दै कवित्त लै वित्त चित्त सबको हरि लीन्हों।
गरजनि सिंह समान सभा मैं श्रीकबिबर की ;
सुनत ससंकित सहमि कौन की मति नहिं थरकी ?
रचना रुचिर कवित्त जुक्ति साँचे में ढारयो ;
जनु रसिकन के हेतु मैन को बान सँवारयो।
अचल अवध के बीच राम-मंदिर बनवायो ;
बन-प्रमोद जहँ सीय राम अतिसै सुख पायो।
सदा औधपुर वास सुखद सरजू-जल-सेवा ;
लषन-राम-सिय छोड़ि और दूसर नहिं देवा।

प्रतापगढ़ (अवध) के भगवंत कवि ने लछीरामजी की मृत्यु पर एक पद्य कहा है । उसे भी हम नीचे देते हैं—

अंस निज सुत मैं प्रसंस जगती के तल
रचना-सकति राखे सिष्यनि के हद मैं ;
सूझ भगवंत मैं सु बूझ कबि ज्ञानिन में
रीझ राखी नृपनि औ खीझ बैरी सद मैं ।
कवि लछिराम कीनी चातुरी चलत एती
बानी बरबानी ज्ञान राखे बेद-नद मैं ;
घन राखे मौन मैं सु गुन सब सामुहे मैं
तन राखे चौखट औ मन रामपद मैं ।

[एप्रिल, १९०५

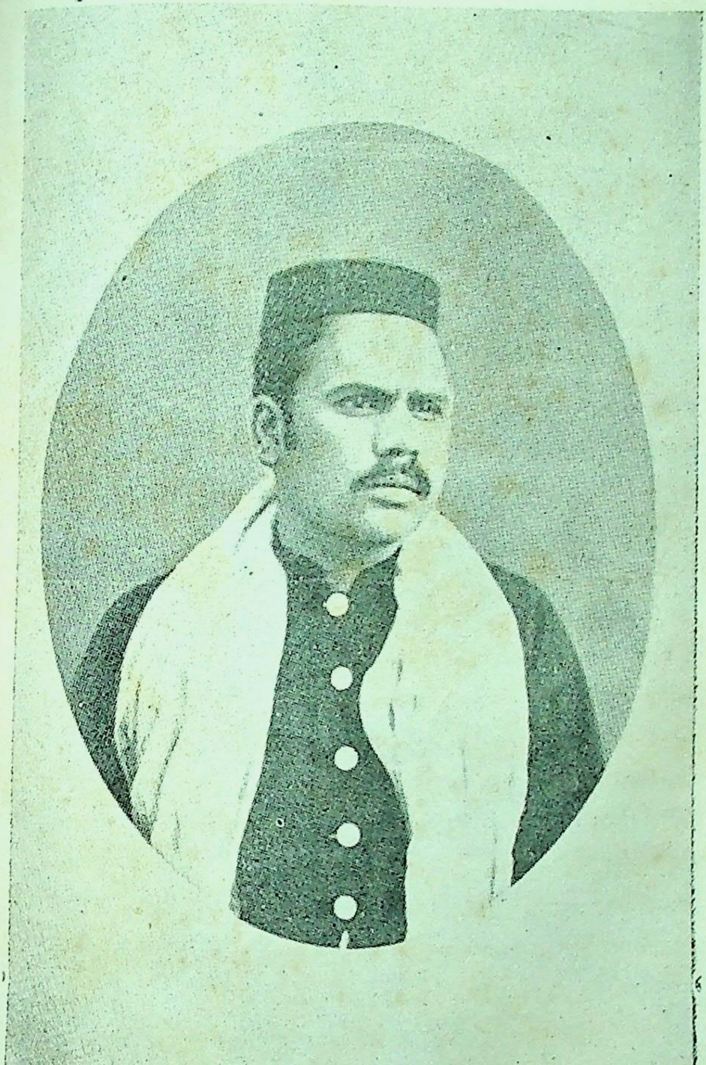
(५)

पंडित बलदेवप्रसाद मिश्र

जिन लोगों को हिंदी लिखने-पढ़ने का शौक़ है वे मुरादाबाद-निवासी पंडित बलदेवप्रसाद मिश्र को अवश्य जानते होंगे। उनकी बदौलत कितनी ही अच्छी-अच्छी पुस्तकें हिंदी में हो गईं। वह प्रसिद्ध वक्ता पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र के छोटे भाई थे। चार-पाँच दिन बीमार रहकर ७ अगस्त १९०९ को, ३६ वर्ष की उम्र में, उनका शरीरपात हो गया। हिंदी का एक अच्छा लेखक खो गया। अफ़सोस !

सात-आठ वर्ष हुए, जब झाँसी में पहले-पहल पंडित बलदेवप्रसाद मिश्र हमसे मिले। आपके साथ आपके बड़े भाई पंडित ज्वालाप्रसाद, लाला शालग्राम और एक और कोई सज्जन भी थे। जब तक आप बैठे, बराबर साहित्य-विषयक बातें करते रहे। आपसे मालूम हुआ कि आपको गुजराती और मराठी पुस्तकें भी पढ़ने का शौक़ है। आपने हमसे इन भाषाओं के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध अख़बारों का नाम पूछा और हमारे पास से दो-एक नमूने भी उनके लिए। झाँसी से आप, अपने साथियों समेत, छत्रपुर प्रस्थान कर गए। उस समय आप तंत्रप्रभाकर-नामक पत्र निकालते थे। मुरादाबाद लौटकर आपने अपने पर्यटन का वृत्तांत उसमें छापा। हम लोगों की पारस्परिक भेंट का भी आपने उसमें ज़िक्र किया।

इसके तीन-चार वर्ष बाद हमारे एक मित्र की बदली मुरादाबाद को हुई। उनसे मिलने के लिये हम कई दफ़े मुरादाबाद गए। वहाँ पंडित ज्वालाप्रसाद के यहाँ पंडित बलदेवप्रसाद से भी भेंट हुई।



पं० बलदेवप्रसाद मिश्र

उनसे मिलकर बड़ा आनंद हुआ। हमने देखा कि जो बलदेवप्रसाद चार वर्ष पहले हमसे मराठी और गुजराती के अच्छे-अच्छे अख़बारों और ग्रंथों के नाम पूछते थे, उनके यहाँ इतने थोड़े समय में, इन भाषाओं के कितने ही ऐसे अच्छे-अच्छे ग्रंथ, मासिक पुस्तकें और अख़बार इकट्ठे हो गए हैं, जिनको हमने उसके पहले कभी देखा ही न था। हमको पंडित बलदेवप्रसाद के इस परिश्रम, इस विद्या-व्यसन, इस उन्नति और इस पुस्तकावलोकन-प्रेम पर आश्चर्य हुआ। हमने उनका हृदय से अभिनंदन किया और उनके कहने से कई एक गुजराती पुस्तकें मँगाकर उनसे लाभ भी उठाया।

हिंदी तो पंडित बलदेवप्रसाद की मातृभाषा ही थी। उसके और मराठी तथा गुजराती के सिवा आप बँगला भी अच्छी तरह जानते थे। बँगला की भी बहुत-सी अच्छी-अच्छी पुस्तकें हमने आपके यहाँ देखीं। पुस्तक-संग्रह से आपको बड़ा प्रेम था। जिन भाषाओं को आप जानते थे उनके साहित्य में होनेवाली बड़ी-बड़ी घटनाओं से भी आप ख़ूब वाक़िफ़ थे। कोई भी महत्त्व-पूर्ण बात ऐसी न थी जिसे आप न जानते हों। सुनते हैं, संस्कृत, अँगरेज़ी और उर्दू में भी आपकी गति थी। पर इस विषय में हम ख़ुद कुछ नहीं कह सकते।

जनवरी १९०३ में हम मुरादाबाद में थे। पंडित ज्वालाप्रसाद के मकान से थोड़ी दूर पर पंडित बलदेवप्रसाद रहते थे। उनके यहाँ जाकर हम बैठे हैं कि एक हिंदी-अख़बार आया। उसमें सरस्वती की आलोचना थी। आलोचना बुरी तरह की गई थी। आपने उसे हमको दिखाया। उसे पढ़कर कृतज्ञता-ज्ञापन-पूर्वक हमने उन्हें लौटा दिया। थोड़ी देर ठहरकर आपने उस आलोचना के विषय में अपनी राय दी, जिससे आपकी सुरुचि का हमें अच्छा पता मिला।

जब-जब हम मुरादाबाद जाते थे, पंडित बलदेवप्रसाद अपनी एकआध पुस्तक देने की ज़रूर कृपा करते थे। हमारे मुरादाबादी मित्र को भी हिंदी की अच्छी-अच्छी किताबें पढ़ने के लिये आप दिया करते थे। लाहौर से सनातनधर्म का पक्षपाती एक अख़बार, उर्दू में, निकलता था। शायद वह अब भी निकलता है। उससे और आर्यसमाज के एक अख़बार से वैमनस्य हो गया। विरोधी धार्मिक समाजों में अनबन रहती ही है। दोनों तरफ़ कड़े-कड़े लेख लिखे जाने लगे। अंत में कचहरी तक जाने की नौबत आई। उसमें लाहौर के अख़बार से संबंध रखनेवालों का पराभव हुआ। इस मुक़द्दमे के सब काग़ज़ात आर्यसमाज के अनुयायियों ने पीछे से पुस्तकाकार छपाए। पंडित बलदेवप्रसाद ने इस पुस्तक को मँगाकर बड़े चाव से पढ़ा और हमारे मुरादाबादी मित्र को भी पढ़ने को दिया। उसी दर्मियान में हम भी मुरादाबाद गए। पंडित बलदेवप्रसाद की बदौलत हमने भी इस पुस्तक को पढ़ा। इसमें कई एक बहुत ही रोमांचकारिणी और घृणित घटनाओं का ज़िक्र था। उनको पढ़कर हम दंग रह गए। धर्म-जीवी पुरुषों में इतना अनाचार! शिव शिव!

पंडित बलदेवप्रसाद ने तंत्रप्रभाकर-नामक एक प्रेस खोला था। उसमें आप पहले तंत्र-संबंधी पुस्तकें छापते थे। कुछ समय तक हरद्वार और मुरादाबाद में तांत्रिक ग्रंथों की बहुत धूम थी। पर कुछ दिन बाद बलदेवप्रसाद ने, किसी कारण से, यह प्रेस बंद कर दिया और साथ ही तंत्रों के उद्धार की भी समाप्ति कर दी। तंत्रप्रभाकर नाम का जो अख़बार आप निकालते थे उसे भी आपने कुछ दिनों में बंद कर दिया। पंडित बलदेवप्रसाद ने कुछ समय तक भारतभानु और साहित्यसरोज आदि कई और भी अख़बारों का संपादन किया था।

मुरादाबाद में बहुत दिनों से हिंदी की चर्चा है। इस शहर के कई एक लेखकों की कृपा से हिंदी में कितनी ही नई-नई पुस्तकें निकली हैं। परंतु इन लेखकों में एकआध ऐसे दैवी महात्मा हुए जिनके कान में देवता और ऋषि-मुनि तक अद्भुत-अद्भुत पुस्तकों का आशय सुना जाते थे। उसे ही ये सज्जन लिखकर प्रकाशित करते थे और उन सिद्ध पुरुषों की बदौलत नाम और दाम, दोनों, खूब पैदा करते थे। परंतु, जहाँ तक हम जानते हैं, पंडित बलदेवप्रसाद को इस तरह का कोई देवता सिद्ध न था।

इस प्रांत में इस समय बहुत कम लोग ऐसे हैं जिनका व्यवसाय सिर्फ़ किताबें लिखने का हो। पढ़नेवालों की कमी के कारण इस व्यवसाय से जीवन-निर्वाह कठिनता से होता है। परंतु पंडित बलदेवप्रसाद को अपनी बुद्धि और परिश्रम के बल से इसी व्यवसाय से यथेष्ट धन-प्राप्ति होती थी। मुरादाबाद में हम डाकख़ाने के पास ठहरते थे। सुबह पंडित बलदेवप्रसाद जब डाकख़ाने से अपनी डाक लेकर लौटते थे तब हम बहुत-सी चिट्ठियाँ उनकी पुस्तकों की माँग से भरी हुई उनके पास देखते थे।

पंडित बलदेवप्रसाद बड़े परिश्रमी थे। उन्होंने थोड़ी ही उम्र में बहुत-सी पुस्तकें लिख डालीं। बंबई के वेंकटेश्वर-प्रेस से आपका अधिक संबंध था। वहाँ आपकी कई पुस्तकें छपी हैं। आपके अग्रज पंडित ज्वालाप्रसादजी ने भी इस प्रेस के लिये कई पुराणों और काव्यों का हिंदी-अनुवाद किया है। आपके अनुवाद बहुत अच्छे हैं। उनका प्रचार भी खूब है। जिस समय हम बंबई में थे, पंडित बलदेवप्रसाद का अनुवाद किया हुआ हिंदी-राजस्थान वेंकटेश्वर-प्रेस में छपने के लिये आया था। परंतु किसी कारण-विशेष से वह अभी तक नहीं छपा। पंडित बलदेवप्रसाद की इच्छा थी कि यदि हम फिर कभी बंबई जायँ तो उनके

इस अनुवाद को देखकर सेठ खेमराज के सामने इसकी समालोचना करें। परंतु तब से बंबई जाने का हमें मौक़ा ही न आया।

पंडित बलदेवप्रसाद जब हमारे स्थान पर, मुरादाबाद में, आते थे तब आप हमसे हमेशा यह पूछा करते थे कि कोई नई पुस्तक आप लाए? हमारे पास यदि कोई पुस्तक होती थी, हम दिखलाते थे। एक दफ़े "रूलर्स ऑफ़ मैनकाइंड" (Rules of Mankind) नाम की अँगरेज़ी-पुस्तक देखकर आप बहुत प्रसन्न हुए। उसकी तसवीरों पर आप मोहित हो गए और अपने मित्रों आदि को दिखलाने के लिये उसे घर ले गए। आप बार-बार कहते थे कि यदि इसका हिंदी-अनुवाद हो जाय तो बहुत अच्छा हो।

पंडितजी ने बँगला, मराठी और गुजराती-भाषा की पुस्तकों की सहायता से बहुत-सी पुस्तकें हिंदी में लिखीं और अनुवादित कीं। पानीपत, देवी-उपन्यास, कुंद-नंदिनी, दंड-संग्रह, राजस्थान, नैपाल का इतिहास, ताँतिया भील और पृथ्वीराज चौहान आदि हिंदी की पुस्तकें इन्हीं की हैं। संस्कृत की भी कई अच्छी-अच्छी पुस्तकों का अनुवाद आपने, इसी तरह, किया है। सूर्यसिद्धांत, वाराही-संहिता, रसेंद्र-चिंतामणि, यंत्र-चिंतामणि, महानिर्वाण-तंत्र, अध्यात्मरामायण और कल्किपुराण आदि उन्हीं में से हैं। आपने मराठी-हिंदी की एक प्राइमर (प्रथम पुस्तक) लिखकर हिंदी जाननेवालों के लिये मराठी सीखने का द्वार भी उन्मुक्त कर दिया है। यह पुस्तक शायद नवलकिशोर के छापेख़ाने में छपी है। आपके भाई पंडित ज्वालाप्रसादजी ने श्रीमद्भागवत का अनुवाद हिंदी में किया है। वेंकटेश्वर-प्रेस में उसे छपे बहुत दिन हुए। दो-तीन वर्ष हुए, पंडित बलदेवप्रसाद के नाम से भी श्रीमद्भागवत का एक अनुवाद "भारतमित्र"-प्रेस से प्रकाशित हुआ है। आपकी कई पुस्तकें "भारतमित्र" और "वेंकटेश्वर-

समाचार" के ग्राहकों को उपहार में दी गई हैं। बँगला के प्रसिद्ध उपन्यास-लेखक वंकिम बाबू के उपन्यासों का बड़ा आदर है। पर उनके मालिक उनके स्वत्व की रक्षा बहुत सावधानी से करते हैं। यहाँ तक कि वे वंकिम बाबू के फुटकर लेखों को भी दूसरी भाषा में अनुवादित होने की अनुमति नहीं देते। और देते भी हैं तो बहुत मुशकिल से। पर पंडित बलदेवप्रसाद ने उनके भी कई उपन्यासों का अनुवाद, किसी तरह, हिंदी में कर डाला। देवी और कुंदनंदिनी वंकिम बाबू के ही उपन्यासों का अनुवाद हैं। आपकी एकआध पुस्तक में मूल-ग्रंथकार का नाम भूल से रह गया है। आपने हिंदी में कई एक नाटक और उपन्यास भी लिखे हैं। आपकी कुछ पुस्तकें अभी तक बेछपी हुई भी पड़ी हैं। पंडित प्रतापनारायण की एक पुस्तक अप्रकाशित पड़ी थी। अभी कुछ दिन हुए उसे प्रकाशित करके पंडित बलदेवप्रसाद ने बहुत अच्छा काम किया।

जब से हमारा परिचय पंडित बलदेवप्रसाद से हुआ तब से वह अक्सर अपनी नई पुस्तकों की एक कॉपी हमको भेजते थे। एक बार उन्होंने नाट्यशास्त्र-संबंधी अपनी एक पुस्तक हमारे पास भेजी। हमें वह पुस्तक बहुत अच्छी लगी। उसके लिये हमने उनको अनेक धन्यवाद दिए। पर हमने इतना लिख दिया कि मराठी में इस विषय की अमुक पुस्तक शायद आपकी नज़र से गुज़री हो। तब से आप हमसे कुछ विरक्त-से हो गए। इसका हमें बहुत खेद है।

सुनते हैं, पंडित बलदेवप्रसादजी कविता भी करते थे; परंतु आपकी कविता हमारे देखने में नहीं आई।

पंडित बलदेवप्रसाद की अकाल-मृत्यु से उनके कुटुंबियों और मित्रों को बहुत दुःख हुआ है। हम उनके दुःख से दुःखी हैं और

उनके साथ अपनी हार्दिक सहानुभूति प्रकट करते हैं । "मरणं प्रकृतिः शरीरिणाम्"—मरना शरीरधारियों का स्वभाव ही है। पर कुसमय की मृत्यु से मृत व्यक्ति के आश्रित संबंधी और स्नेही जनों को बहुत दुःख होता है। तथापि ऐसे मामलों में मनुष्य का कुछ वश नहीं। उसे धैर्य ही धरना चाहिए।

इसमें कोई संदेह नहीं कि पंडित बलदेवप्रसाद के शरीर के साथ हिंदी का एक बहुत अच्छा लेखक, हमेशह के लिये, तिरोहित हो गया।

[नवंबर, १९०५

पंडित प्रतापनारायण मिश्र

वंश-विवरण

पंडित प्रतापनारायण मिश्र हिंदी के मशहूर लेखक और कवि हो गए हैं । उन्होंने अपने "ब्राह्मण" मासिक पत्र में अपना चरित लिखना शुरू किया था । आपने उसका नाम रक्खा था "प्रताप-चरित्र" । परंतु वह पूरा नहीं हुआ । छपा हुआ उसका सिर्फ़ पहला फ़ॉर्म, अलग, पुस्तकाकार, खड्गविलास-प्रेस, बाँकीपुर से हमें मिला है । उसमें प्रतापनारायण ने अपने पूर्वजों का वृत्तांत लिखा है । उसके अनुसार आप कान्यकुब्ज-ब्राह्मणों के अंतर्गत बैजेगाँव के मिश्र थे । आपका गोत्र कात्यायन था । इसी से आप अपनेको "महर्षि-कात्यायन-कुमार" लिखते थे । उनकी देखा-देखी और भी दो-एक आदमी अपनेको "कात्यायन-कुमार" कहने लगे हैं । अवध में एक ज़िला उन्नाव है । कानपूर से उन्नाव (शहर) पाँच-छः कोस है । बैजेगाँव उसी ज़िले में है । उन्नाव से वह थोड़ी ही दूर है । प्रतापनारायण के पिता का नाम संकटाप्रसाद, पितामह का रामदयाल और प्रपितामह का सेवकनाथ था । उनके पितामह रामदयाल मिश्र, सुनते हैं, कवि थे । पर उनकी लिखी हुई कविता प्रतापनारायण के देखने में नहीं आई । उनके पिता संकटाप्रसाद अच्छे ज्योतिषी थे । १४ वर्ष की उम्र में वह अपना जन्म-ग्राम छोड़कर, जीविका के लिये, कानपूर आए । यहाँ, धीरे-धीरे, उनकी आर्थिक दशा अच्छी हो गई और उन्होंने कुछ रियासत भी पैदा कर ली । कुछ दिनों तक, ग़ाज़िउद्दीन हैदर के समय में,

दीवान फ़तेहचंद के यहाँ उन्होंने नौकरी भी की। प्रतापनारायण की चाची कानपूर-निवासी ख्यातनामा प्रयागनारायण तिवारी के वंश की थीं। इस योग के कारण प्रतापनारायण के पिता को कानपूर में रहने में बहुत सुबीता हुआ।

लड़कपन और विद्याभ्यास

प्रतापनारायण का जन्म आश्विन-कृष्ण ६, संवत् १६१३ (१८५६ ईसवी) में हुआ था। उनके पिता ज्योतिषी थे ही। इससे उन्होंने अपने पुत्र, प्रतापनारायण, को भी ज्योतिर्विद् बनाना चाहा। पर प्रतापनारायण को "आदिनाडी वरं हन्ति मध्यनाडी च कन्यकाम्"वाले मसले पसंद नहीं आए। इससे लाचार होकर पिता ने उन्हें अँगरेज़ी मदरसे में भेजा। जिस मदरसे में आपने अँगरेज़ी का आरंभ किया उस पर आपकी बहुत दिनों तक कृपा नहीं रही। इस कारण पादरियों के मदरसे में आपने पदार्पण किया। वहाँ उनका और "आर्मी-प्रेस", (कानपूर) के मालिक बाबू सीताराम का साथ हुआ। बाबू सीताराम से मालूम हुआ कि प्रतापनारायण का दिल पढ़ने में न लगता था। इससे वह अपने अध्यापकों के बहुधा कोपभाजन हुआ करते थे। धीरे-धीरे उन्हें पढ़ना पीड़ा-जनक मालूम होने लगा और अँगरेज़ी की बहुत ही थोड़ी विज्ञता प्राप्त करके आपने, १८७५ ईसवी के लगभग, स्कूल से अपना पिंड छुड़ा लिया। इसके कुछ ही दिनों बाद आपके पिता की मृत्यु हुई। इससे इनकी शिक्षा की समाप्ति एकदम ही हो गई। स्कूल में इनकी दूसरी भाषा हिंदी थी। पर इन्होंने उर्दू में भी अच्छा अभ्यास कर लिया था। आपने फ़ारसी और संस्कृत में भी कुछ कविताएँ लिखी हैं। इससे जान पड़ता है कि इन भाषाओं में भी आपकी गति हो गई थी। बँगला भी इन्होंने सीख ली थी।

कविता-प्रेम

जिस ज़माने में प्रतापनारायण स्कूल में थे, बाबू हरिश्चंद्र की "कवि-वचन-सुधा"-पत्रिका खूब उन्नत अवस्था में थी। उसमें बहुत ही मनोरंजक गद्य-पद्यमय लेख निकलते थे। उसे, और बाबू हरिश्चंद्र की अन्यान्य रचनाओं को भी, पढ़कर प्रतापनारायण की प्रवृत्ति कविता की तरफ़ हुई। उस समय कानपूर में लावनी-बाज़ों का बड़ा ज़ोरोशोर था। बाबू सीताराम कहते हैं कि लावनी गानेवालों की कई जमातें यहाँ थीं। लावनी का प्रसिद्ध कवि बनारसी भी उस समय अक्सर कानपूर में रहा करता था। वे लोग बहुधा सर्व-साधारण में लावनी गाया करते थे। उनके दो दल इकट्ठे हो जाते थे और लावनी कहने में एक दूसरे को परास्त करने की चेष्टा करता था। उनमें से कोई-कोई आदमी बहुत अच्छी लावनी कहते थे और मौक़े-मौक़े पर नई लावनी बना भी लेते थे। प्रतापनारायण इन लोगों की जमातों में कभी-कभी जाते थे। इसी समय कानपूर के प्रसिद्ध कवि पंडित ललिताप्रसाद त्रिवेदी के धनुष-यज्ञ की धूम थी। आप राम-लीला—विशेष करके धनुष-यज्ञ—कराने में बड़े निपुण थे। समयानुकूल अच्छी-अच्छी कविता की रचना करके और उसे लीला-गत पात्रों के मुँह से सुनाकर सुनने-वालों के मन को आप मोहित कर लेते थे। प्रतापनारायण भी इस लीला में शामिल होते थे और "ललितजी" की कविता का पाठ करते थे। हरिश्चंद्र के लेख पढ़ने, लावनीवालों की लावनी सुनने, और "ललितजी" की लीला में योग देने से, सुनते हैं, प्रताप-नारायण की हृदय-भूमि में कविता का बीज अच्छी तरह अंकुरित हो गया। इसके बाद छंदःशास्त्र के नियम भी शायद उन्होंने "ललितजी" से सीखे। क्योंकि, सुनते हैं, इस विषय में वह "ललितजी" को अपना गुरु मानते थे।

"ब्राह्मण"

प्रतापनारायण को हिंदी-अख़बार पढ़ने का लड़कपन से ही शौक़ था। इसी शौक़ से धीरे-धीरे उत्साहित होकर, बाबू गोपीनाथ खन्ना इत्यादि की मदद से, इन्होंने १५ मार्च, १८८३ से "ब्राह्मण"-नामक एक १२ पृष्ठों का मासिक पत्र निकालना शुरू किया। यह कोई दस वर्ष तक निकलता रहा। पर निकलने में यह बहुत अनियमित था। जन्म होने के थोड़े ही दिनों बाद इसके निकलने में देरी होने लगी। इस देरी का कारण प्रायः पंडित प्रतापनारायण की बीमारी थी। आप अक्सर बीमार रहा करते थे। विशेष शिकायत आपको बवासीर की थी। १८८७ ई० में "ब्राह्मण" कुछ दिनों के लिये बंद भी हो गया था। इनकी मृत्यु के बाद भी "खड्गविलास-प्रेस" (बाँकीपुर) के मालिक, बाबू रामदीनसिंह, ने "ब्राह्मण" को कुछ समय तक जीवित रक्खा। पर वह चला नहीं; बंद ही हो गया। प्रतापनारायण पर बाबू रामदीनसिंह की विशेष कृपा थी। उनकी बहुत-सी पुस्तकों को बाबू साहब ने छापकर प्रकाशित किया है। प्रतापनारायण ने कुछ को छोड़कर अपनी सभी पुस्तकों का अधिकार बाबू रामदीनसिंह को ही दे दिया था।

"ब्राह्मण" में पंडित प्रतापनारायण धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक, सभी तरह के लेख लिखते थे। यहाँ तक कि आप ख़बरें भी छापते थे। कभी-कभी कानपूर की बहुत छोटी-छोटी ख़बरें तक भी आप प्रकाशित कर देते थे। "ब्राह्मण" का पहला अंक होली के दिनों में निकला था। उसकी प्रस्तावना में प्रतापनारायण ने, उसकी पैदाइश होली की बतलाकर, आगे चलकर, थोड़ी दूर पर, होली पर ही एक लेख लिखा। लेख दिल्लगी से भरा हुआ है। पर उसके बीच में जो मत-मतांतर की बातें आ गई हैं, वे ज़बरदस्ती लाई गईं मालूम होती हैं।

"ब्राह्मण" में कैसे लेख निकलते थे, इसका अंदाज़ा लगाने के लिये कुछ लेखों के नाम हम नीचे देते हैं—

१. बेगार, २. होली, ३. रिशवत, ४. देशोन्नति, ५. गुप्त ठग (दूकानदार), ६. मुच्छ, ७. कानपुर-माहात्म्य (आल्हा), ८. शोकाश्रु (हरिश्चंद्र के मरने पर कविता), ९. विस्फोटक, १०. भारत-रोदन-धर्म, ११. गंगाजी, १२. मानस-रहस्य, १३. बंदरों की सभा, १४. टेढ़ जानि शंका सबकाहू, १५. घूरे के लत्ता बिनैं, कनातन का डोल बाँधैं, १६. खरी बात शहिदुल्ला कहैं, सबके जी ते उतरे रहैं, १७. जानैं न बूझैं, कठौता लैकै जूझैं, १८. हाथी चले ही जाते हैं कुत्ते भोंका ही करते हैं, इत्यादि।

"ब्राह्मण" के ज़माने में हिंदी की तरफ़ लोगों का ध्यान नया-ही-नया गया था। इससे मासिक पुस्तकों में जैसे लेख होने चाहिए वैसे बहुत कम लेख "ब्राह्मण" में निकले। हमने इस पत्र के पहले तीन साल के सब अंक देख डाले, किंतु इतिहास, जीवन-चरित, विज्ञान, पुरातत्त्व अथवा और कोई मनोरंजक पर लाभदायक शास्त्रीय विषय पर कोई अच्छे लेख हमें न मिले। इसमें पंडित प्रतापनारायण का दोष कम था, समय का अधिक।

प्रतापनारायण की हिंदी ख़ूब मुहावरेदार होती थी। वह अपने लेखों में कहावतें बहुत लिखते थे। पर शब्द-शुद्धि की तरफ़ उनका ख़याल कम था। स्लोक्ष, रिषि, रिषीश्वर, रितु, ग्रहस्त, लेखणी, औगुण, मात्रभाषा आदि व्याकरण-विरुद्ध शब्द जगह-जगह पर देख पड़ते हैं। संभव है, ऐसे शब्द सावधानी से प्रूफ़ न देखने के कारण रह गए हों, या हिंदी समझकर प्रतापनारायण ने इन्हें ऐसा ही लिखा हो। "ब्राह्मण" में हमें कितने ही संस्कृत के वाक्य भी व्याकरण-विरुद्ध मिले। यथा—"अहं पंडितम्", "स्वधर्मो निधनः श्रेयः", "का चिन्ता मरणो रणो", "यथानामस्तथागुणः"।

इनको देखकर पंडित प्रतापनारायण की संस्कृतज्ञता के विषय में शंका होने लगती है। पर संस्कृत में भी उन्होंने कविता लिखी है। उनकी एक पुस्तक का नाम है "मन की लहर"। उसमें एक लावनी संस्कृत में है। वह यद्यपि निर्दोष नहीं तथापि बुरी भी नहीं है। इसी पुस्तक में पंडित प्रतापनारायण की कुछ फ़ारसी-कविता भी है। पर फ़ारसी के अच्छे जाननेवाले ही उस पर अपनी राय दे सकते हैं। १५ मई, १८८३ ईसवी के "ब्राह्मण" में एक लेख बेगार पर है। वह अँगरेज़ी में है। पता लगाने से मालूम हुआ कि वह मिशन-स्कूल के अध्यापक बाबू नन्हेमल का लिखा हुआ है। प्रतापनारायण ने अपना उपनाम "ईश्वरावलंबित" रक्खा था और उनके साथी मास्टर नन्हेमल ने "सुखदावलंबित"। "सुखदावलंबितजी" अभी विद्यमान हैं।

प्रतापनारायण के लेखों में मनोरंजकता की मात्रा खूब होती थी। हास्य-रस के लाने का जहाँ पर ज़रा भी मौक़ा होता था वहाँ उसे वह हाथ से न जाने देते थे। कभी-कभी उर्दू की तरह की अनुप्रास-पूर्ण बनावटी इबारत भी आप लिखते थे। इनकी कविता बहुत अच्छी होती थी। कभी-कभी यह "ब्राह्मण" की क़ीमत तक, दान-ग्राही ब्राह्मण की तरह, कविता ही में माँगते थे। देखिए—

(१)

विज्ञापन।

चार महीने हो चुके "ब्राह्मण" की सुधि लेव।
गंगा माई जै करैं, हमैं दच्छिणा देव ॥१॥
जो बिन माँगे दीजिए, दुहुँ दिश होय अनंद।
तुम निर्चित हो, हम करैं, माँगन की सौगंद ॥२॥
सदुपदेश नित ही करैं, माँगैं भोजन, पात्र।
देखहु हम सम दूसरा, कहाँ दान कर पात्र ॥३॥

तुर्त दान जो करिय तो, होय महाकल्यान ।
बहुत बकाए लाभ क्या ? समुझ जाव जजमान ॥४॥
रूपराज की कगर पर, जितने होयँ निशान ।
तिते वर्ष सुख-सुजसजुत, जियत रहो जजमान ॥५॥

(२)

हरिगंगा ।

आठ मास बीते जजमान । अब तो करो दच्छिना दान॥ हरिगंगा
आजुकाल्हि जो रुपया देव । मानों कोटि यज्ञ करि लेव ॥ ,,
माँगत हमका लागै लाज । पै रुपया बिन चलै न काज॥ ,,
तुम अधीन ब्राह्मन के प्रान । ज्यादा कौन बकै जजमान ॥ ,,
जो कहुँ देहौ बहुत खिझाय । यह कौनिउँ भलमंसी आय ॥ ,,
सेवा दान अकारथ (?) होय । हिंदू जानत हैं सब कोय ॥ ,,
हँसी-खुसी से रुपया देव । दूध-पूत सब हमते लेव ॥ ,,
कासी पुन्नि गया माँ पुन्नि । बाबा बैजनाथ माँ पुन्नि ॥ ,,

प्रतापनारायण के कोई-कोई लेख व्यंग्य से बेतरह भरे हुए होते थे । उन्होंने एक दफ़े भंगड़ और फक्कड़ का क़िस्सा उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में लिखा था । वह साद्यंत विकट व्यंग्यों से पूर्ण है । हँसी-दिल्लगी के लेख लिखकर ग्राहकों को रिझाना इन्हें ख़ूब आता था । तिस पर भी लोग "ब्राह्मण" की क़ीमत वक़्त पर न देते थे । बहुतेरे तो देते ही न थे । इससे इनको तंग होना पड़ता था और घाटा भी उठाना पड़ता था । एक बार बीमारी के बाद बाबू हरिश्चंद्र के स्नान करने और अंत में उनके मरने पर इन्होंने अपने पत्र में बहुत अच्छी कविता लिखी थी । अपनी कविता में इन्होंने बाबू हरिश्चंद्र की बहुत तारीफ़ की है । एक जगह आप कहते हैं—

बनारस की ज़मीं नाज़ाँ है जिसकी पायबोसी पर ;
अदब से जिसके आगे चर्ख़ ने गर्दन झुकाई है ।

वही महताबे-हिंदुस्ताँ, वही ग़ैरतदिहे नैयर—
कि जिसने दिल से हर हिंदू के तारीकी मिटाई है।
सब उसके काम ऐसे हैं कि जिनको देख हैरत से,
हर एक आक़िल ने अपनी दाँत में उँगली दबाई है।

भारत-जीवन, भारतेंदु, उचितवक्ता और फ़तेहगढ़-पंच आदि पत्रों और मासिक पुस्तकों से कभी-कभी आप छेड़छाड़ भी कर बैठते थे। यदि वे आपकी बात में दंश देते थे तो आप उनको जवाब भी ख़ूब देते थे। पंडित बदरीदीन शुक्ल, अकबरपुर (कानपूर) में मदरसों के सब-डेप्युटी-इंस्पेक्टर थे। उनकी तरक़्क़ी आदि के बारे में आपने, न-मालूम क्यों, बार-बार "ब्राह्मण" में नोट लिखे हैं। इनके "ब्राह्मण" की एक कॉपी कानपूर के कलेक्टर के नाम से भी जाती थी।

"हिंदोस्थान" से संबंध

१८८९ ईसवी में प्रतापनारायण कालेकाँकर गए और राजा रामपालसिंह के "हिंदोस्थान" के संपादन में सहायता देने के काम पर नियत हुए। परंतु उनके स्वभाव में स्वच्छंदता अधिक थी। इस कारण वह बहुत दिनों तक वहाँ न रह सके। उन्हें वहाँ से वापस आना पड़ा। उसी समय हिंदुस्तान के सच्चे शुभ-चिंतक ब्राडला साहब इस देश में आए। उनके आने के उपलक्ष में पंडित प्रतापनारायण ने "ब्राडला-स्वागत" नाम की एक कविता लिखी। लोगों ने इस कविता का बड़ा आदर किया। इँगलैंड तक में उसकी समालोचना हुई। इस कविता का आरंभ इस प्रकार है—

स्वागत श्रीयुत ब्राडला, प्रेम-प्रतिष्ठा-पात्र;
पलक-पाँवड़े करि रहे, तव हित देशी-मात्र।
स्वागत श्रीयुत चार्ल्स ब्राडला परम पियारे;
स्वागत, स्वागत बृटिश-वंश-विधु जग-उजियारे।

कालेकाँकर में इनकी संगति से एक ऐसे सज्जन ने हिंदी सीखी जिसने ख़ुद देहाती होकर भी, और जिसकी बदौलत उसने हिंदी सीखी उसकी जन्म-भूमि देहात में थी, यह जानकर भी, देहातियों ही की सिखलाई हुई हिंदी में देहातियों की निंदा करके अच्छा नाम पैदा किया है।

पुस्तक-रचना

इन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं और अनुवादित कीं। जहाँ तक जाना गया है, इनकी अनुवाद की हुई पुस्तकें ये हैं—

(१) राजसिंह
(२) इंदिरा
(३) राधारानी
(४) युगलांगुरीय
} वंकिम बाबू के बँगला-उपन्यास

(५) चरिताष्टक—बंगाल के ८ प्रसिद्ध पुरुषों के चरित
(६) पंचामृत—पाँच प्रसिद्ध देवतों का अभिन्नत्व-निरूपण
(७) नीतिरत्नावली—बँगला की नीतिरत्नमाला का अनुवाद
(८) कथामाला—ईश्वरचंद्र विद्यासागर की पुस्तक का अनुवाद
(९) संगीत शाकुंतल
(१०) वर्णपरिचय, तृतीय भाग—ईश्वरचंद्र विद्यासागर की पुस्तक का अनुवाद
(११) सेन-वंश—सेन-वंशीय राजों का इतिहास
(१२) सूबे बंगाल का भूगोल

प्रतापनारायण की लिखी हुई पुस्तकें, जिनके नाम ज्ञात हुए हैं, ये हैं—

(१) कलिकौतुक (रूपक)
(२) कलिप्रभाव (नाटक)
(३) हठी हमीर (नाटक)

(४) गो-संकट (नाटक)
(५) जुआरी-खुआरी-प्रहसन
(६) प्रेम-पुष्पावली
(७) मन की लहर
(८) शृंगार-विलास
(९) दंगल-खंड (आल्हा)
(१०) लोकोक्ति-शतक
(११) तृप्यन्ताम्
(१२) ब्राडला-स्वागत
(१३) भारतदुर्दशा (रूपक)
(१४) शैव-सर्वस्व
(१५) प्रताप-संग्रह } संग्रह
(१६) रसखान-शतक }
(१७) मानस-विनोद

इनके सिवा इन्होंने वर्ण-माला, शिशु-विज्ञान और स्वास्थ्य-रक्षा नाम की पुस्तकें भी लिखी हैं। पर हमने इन पुस्तकों को नहीं देखा; इससे हम नहीं कह सकते, ये अनुवाद-रूप हैं या इन्हीं की लिखी हुई। शैव-सर्वस्व में आपने शिवालय, शिव-लिंग-स्थापना और शिव-पूजन का समर्थन किया है। तृप्यन्ताम् एक विनोदात्मक कविता है; पर उपदेश-पूर्ण है। उसमें देश-दशा का अच्छा चित्र है। लोकोक्ति-शतक भी अच्छी कविता है। उसमें एक-एक कहावत पर एक-एक पद्य है और हर पद्य का अंतिम चरण स्वयं कोई कहावत है। इनकी कई किताबें बिहार के शिक्षा-विभाग में, बाबू रामदीनसिंह के प्रयत्न से, जारी हो गई थीं। मालूम नहीं, अब वे जारी हैं या नहीं। इनकी एक पुस्तक को मुरादाबाद-निवासी पंडित बलदेवप्रसाद ने प्रका-

शित किया है; पर उसका नाम, इस समय, हमें याद नहीं। प्रतापनारायण की पुस्तकों में हम उनके संगीत-शाकुंतल को सबसे अच्छा समझते हैं। अपनी अंतिम बीमारी में उन्होंने परमेश्वर की प्रार्थना में कुछ पद्यों की रचना की थी। वे भी बहुत सरस और भक्ति-भाव-पूर्ण हैं।

रूप, रंग, आत्मश्लाघा आदि

प्रतापनारायण का रंग गोरा था। नाक बहुत बड़ी थी। शरीर दुबला था। कमर जवानी ही में झुक गई थी। आप सिर के बाल बड़े-बड़े रखते थे और आगे दोनों तरफ़ काकुलें थीं। वह किंचित् विलक्षण प्रकार की चेष्टा से कमर झुकाए हुए चलते थे। कदाचित् उनका दुर्बलत्व ही इसका कारण था। कभी-कभी मेले में देखा गया कि परदे से ढके हुए इक्के में बैठे, स्त्रियों की तरह झाँकते हुए, आप चले जा रहे हैं! हम दो दफ़े इनसे मिले। दोनों दफ़े हमने इनके लंबी दाढ़ी देखी। इनको नास सूँघने का व्यसन था। इनकी नाक दिन-भर नास फाँका करती थी। इससे इनकी दाढ़ी और मूछों के बालों पर भी थोड़ा बहुत नास छाया रहता था। शरीर इनका रोग का घर था। आप अपने रूप आदि की तारीफ़ में कहते हैं—

कौसिक-कुल-अवतंस श्री, मिश्र संकटादीन।
जिन निज बुधि-विद्या-विभव, वंश प्रशंसित कीन॥ १॥
तासु तनय "परतापहरि", परम रसिक, बुधराज।
सुघर रूप, सत कबित बिन, जिहि न रुचत कछु काज॥ २॥
प्रेम-परायन, सुजन-प्रिय, सहृदय, नव-रस-सिद्ध।
निजता, निज-भाषा-विषय, अभिमानी परसिद्ध॥ ३॥
श्रीमुख जासु सराहना, कीन्ही श्रीहरिचंद।
तासु कलम-करतूति लखि, लहै न को आनंद॥ ४॥

(संगीत-शाकुंतल)

नाटक की प्रस्तावना में कवि का अपने ही मुँह अपनी तारीफ़ करना अनुचित नहीं। पर, यहाँ, पंडित प्रतापनारायण ने मतलब से कुछ ज़ियादह अपनी तारीफ़ * कर डाली है। ऊपर के अवतरण के आगे भी आपने अपनी तारीफ़ की है और अपनेको "पंडित-वर" लिखा है। "परम रसिक", "सहृदय" और "नव-रस-सिद्ध" इत्यादि विशेषण तो ठीक ही हैं, पर "सुघर रूप" में विलक्षणता है।

आत्मश्लाघा को लोगों ने बुरा माना है। यद्यपि संस्कृत के किसी-किसी कवि ने आत्म-श्लाघा की है, पर कालिदास के सदृश विश्व-मान्य कवि ने नम्रता ही दिखाई है। प्रतापनारायण संस्कृत-कवि श्रीहर्ष और पंडितराज जगन्नाथराज के स्कूल के थे। उन्हें अपनेको "प्रसिद्ध प्रतापनारायण" लिखे विना कल ही न पड़ती थी। उनकी किताबों के ऊपर तक "प्रसिद्ध"-शब्द विराजमान है। "ब्राह्मण" में कई जगह इन्होंने अपने मुँह अपनी और अपनी पुस्तकों की बड़ाई की है। अपनी "प्रेम-पुष्पावली" के ऊपर आपने एक लेख

---

* पर प्रतापनारायण की आत्मश्लाघा उर्दू के प्रसिद्ध कवि इंशा-अल्लाहख़ाँ की आत्मश्लाघा के सामने कोई चीज़ नहीं। सैयद साहब ने एक मुशायरे में अपने एक प्रतिपक्षी के जवाब में एक ग़ज़ल कही थी। उसकी कुछ पंक्तियाँ यों हैं—

एक तिफ़्ल दबिस्ताँ है फ़लातूँ मेरे आगे ;
क्या मुँह है अरस्तू जो करे चूँ मेरे आगे।
क्या माल भला क़स्द फरेदूँ मेरे आगे ;
काँपे है पड़ा गुंबदे-गरदूँ मेरे आगे।
बोले है यही ख़ामा कि किस-किसको मैं बाँधूँ ;
बादल-से चले आते हैं मज़मूँ मेरे आगे।

"ब्राह्मण" में अपनी ही क़लम से लिखकर उसकी ख़ूब तारीफ़ की है। हमारी समझ में इन बातों की ज़रूरत न थी। इनके लेख ही इनकी प्रसिद्धि के लिये काफ़ी थे। ख़ुद ही अपनेको "प्रसिद्ध" लिखने से इनकी प्रसिद्धि शायद ही अधिक हुई हो।

आप कविता में अपना नाम प्रताप, प्रतापहरि, और कभी-कभी प्रेमदास देते थे। प्रेम के आप बहुत बड़े पूजक थे। इसी से आपने अपने नामों में एक नाम प्रेमदास भी रक्खा था।

स्वभाव

प्रतापनारायण के स्वभाव में स्वच्छंदता अधिक थी। वह हमेशा अपने ही रंग में मस्त रहते थे। किसी की पर्वा उनको न थी। जिन लोगों के साथ वह बैठते-उठते थे अथवा जिनसे उनका मैत्री-भाव था उनके यहाँ कभी-कभी वह दिन-दिन-भर पड़े रहते थे। पर कभी-कभी हज़ार मिन्नत आरज़ू करने पर भी उनके यहाँ वह न जाते थे। वह सर्वथा मनमौजी थे। जब कभी कोई उनकी तबियत के ख़िलाफ़ कुछ कह देता या कोई काम कर बैठता तब उसका भी ज़रा मुलाहज़ा न करके वह उसकी गोशमाली करने लगते थे। उनकी तबियत में जोश था। इससे कभी-कभी छोटी-छोटी बातों पर भी वह बिगड़ उठते थे। स्वदेशी चीज़ों और कपड़ों पर उनका अधिक प्रेम था। सादापन उन्हें बहुत पसंद था। वह हमेशा सादे कपड़े पहनते थे। एक दफ़े कोट-बूट पहने एक महाशय उनसे मिलने आए। उस समय वह बहुत सादी पोशाक में अपनी मित्र-मंडली के बीच बैठे थे। आगंतुक ने कहा—"हम पंडित प्रतापनारायण से मिलना चाहते हैं।" यह सुनकर प्रतापनारायण अपनी देहाती बोली में बोल उठे—"भाई, उन-से मिलै की खातिर पंद्रह रुपैया का एकु टिकट लेइ का परत है। तब उइ मिलति हैं।" आपने अपने बैठने के कमरे का नाम रक्खा

था "ब्राह्मण-कुटीर"। पर बैठते आप वहाँ बहुत कम थे। एक दिन जब हम आपसे मिलने गए, आप वहीं हमको मिले। दीवार पर एक इकतारा टँगा था। हमारे साथ एक और सज्जन थे। उन्होंने उस एकतारे को उठाकर छेड़ना शुरू किया। कोई दो मिनट बाद प्रतापनारायण से न रहा गया। उन्होंने उसे उनके हाथ से छीन लिया। आपने कहा—"यहि तना नहीं बजावा जात।" यह कहकर आप खड़े होगए और उसे बजाते हुए लावनी गाने लगे। हमारे साथी सज्जन ने पूछा—"ब्राह्मण मरिगा, कि है?" आपने कहा—"ब्राह्मण अब ना मरी; जी गा। बाबू रामदीनसिंह 'ब्राह्मण' का अमर कै दीन।" हम उनसे दो दफ़े मिले, पर हमें अफ़सोस है कि एक दफ़े भी उनसे साहित्य-विषयक बातें अच्छी तरह न हुईं। शायद उनकी तबीयत उस समय किसी और तरफ़ रुजू थी।

प्रतापनारायण अव्वल नंबर के काहिल थे। उनके बैठने की जगह तक में कूड़े का ढेर लगा रहता था। अख़बार, चिट्ठियाँ, काग़ज़ बिखरे पड़े रहते थे। उनके यहाँ आने-जानेवाले, उनके मित्र, अगर उन्हें उठाकर जगह को साफ़ कर देते थे तो कर देते थे। ख़ुद प्रतापनारायण ने शायद ही कभी उनको उठाकर यथास्थान रक्खा हो। लोगों की चिट्ठियों का उत्तर तक वह बहुधा न देते थे। पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र को इन्होंने एक चिट्ठी लिखी थी। उसे "खड्ग-विलास-प्रेस" ने छापकर प्रकाशित किया है। उसमें, एक जगह, चिट्ठियों का उत्तर न देने के विषय में आप लिखते हैं—"को सारेन की खेहँसि मा परै।"

सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक विचार

प्रतापनारायण को सामाजिक बंधनों की पर्वा बहुत कम थी। इस विषय में विधि-निषेध-संबंधी जो नियम प्रचलित हैं उनकी

पाबंदी के वह क़ायल न थे। उनका आहार-विहार अनियंत्रित था। शरीर-रक्षा के नियमों का वह अच्छी तरह पालन न करते थे। इसी से उनका शरीर जवानी ही में मिट्टी हो गया था और इसी से उनकी अकाल-मृत्यु भी हुई। कवि ही तो ठहरे। कवि स्वभाव ही से उच्छृंखल होते हैं।

सामाजिक बंधनों की तरह धार्मिक बंधनों के भी वह बहुत अधिक वशीभूत न थे। धर्मांधता उनमें न थी। आपके सिद्धांत थे "प्रेम एव परो धर्मः" और "शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि।" किसी विरोधी धर्म से उन्हें आंतरिक घृणा न थी। वह आर्यसमाज, ब्रह्मसमाज, धर्मसमाज, सब कहीं अक्सर चले जाते थे। शायद कुछ दिनों तक किसी पादरी को पढ़ाने की नौकरी भी आपने कर ली थी। उन्होंने एक सनातन हिंदू-धर्मावलंबी के घर में जन्म लिया था और ऐसे ही धर्मावलंबी लोगों के साथ वह बैठते उठते भी थे। इसलिये इस धर्म की तरफ़ उनकी प्रवृत्ति स्वभाव ही से अधिक थी। यह इनके लेखों से ज़ाहिर है। अकेला इनका "शैवसर्वस्व" ही इस बात का पक्का सबूत है। एक दफ़े कलकत्ते के हाईकोर्ट में किसी जज ने शालग्राम की मूर्ति उठवा मँगवाई थी। इस पर प्रतापनारायण बिगड़ उठे थे। आपने कई लेख इस बात के ख़िलाफ़ लिखे थे।

कांग्रेस को यह अच्छा समझते थे। उसके यह पक्षपाती थे। एक दफ़े मदरास और एक दफ़े इलाहाबाद की कांग्रेस में कानपूर से प्रतिनिधि होकर आप गए भी थे। गोरक्षा के यह बहुत बड़े हिमायती थे। अपनी कई कविताओं में इन्होंने गोरक्षा पर ज़ोर दिया है। सुनते हैं, कानपूर में जो इस समय गोशाला है, उसकी स्थापना के लिये प्रयत्न करनेवालों में यह भी थे। एक दफ़े स्वामी भास्करानंद के साथ यह क़न्नौज गए। वहाँ गोरक्षा पर इन्होंने एक

व्याख्यान दिया। व्याख्यान में इन्होंने एक लावनी कही। उसका आरंभ इस प्रकार है—

"बाँ-बाँ करि तृण दाबि दाँत सों
दुखित पुकारत गाई है।"

इसमें करुण-रस का इतना अतिरेक था कि मुसलमानों तक पर इसका असर हुआ और एकआध क़साइयों ने गो-हत्या से तोबा तक कर ली।

हरिश्चंद्र पर भक्ति

हरिश्चंद्र पर प्रतापनारायण की अपूर्व भक्ति थी। उनकी "कवि-वचनसुधा" पढ़ते-ही-पढ़ते हिंदी पर यह अनुरागशील हुए थे। हरिश्चंद्र की इन्होंने बहुत तारीफ़ की है। "ब्राह्मण" में कई जगह मिश्र महाराज ने हरिश्चंद्र को ऐसे-ऐसे विशेषण दिए हैं जो सिर्फ़ बहुत बड़े-बड़े महात्माओं को ही दिए जाते हैं। इन्होंने उनके हाथ तक जोड़े हैं। यह बात, उस समय, किसी-किसी को अच्छी नहीं लगी। इससे इन पर आक्षेप भी हुए। आक्षेपों का इन्होंने यथामति उत्तर भी दिया। हरिश्चंद्र ने जब से प्रतापनारायण की "प्रेमपुष्पावली" की तारीफ़ की तब से इनका उत्साह बहुत बढ़ गया। हरिश्चंद्र की आलोचना गोया इनके सुलेखक और सुकवि होने की एक शिला-लिखित सर्टीफ़िकेट हो गई। उसका उल्लेख करके इन्होंने कई दफ़े अपने ही मुँह अपनी तारीफ़ की। हरिश्चंद्र के मरने पर इन्होंने "शोकाश्रु"-नामक एक विलापात्मक लंबी कविता "ब्राह्मण" में प्रकाशित की। उसमें इन्होंने बाबू साहब के गुण गाते-गाते आकाश-पाताल एक कर दिया। हरिश्चंद्र को इन्होंने "पूज्यपाद" तक कहा है। अपने कई ग्रंथों के आदि में "हरिश्चंद्राय नमः" लिखा है। उनके मरने पर इन्होंने "हरिश्चंद्र-संवत्" लिखना तक शुरू कर दिया था।

मृत्यु

इनका शरीर क्या था, रोग का चिर वास्तव्य था। कई दफ़े यह सख़्त बीमार हुए, पर बच गए। संवत् १९५१ की आषाढ़-शुक्ल चतुर्थी, रविवार, (ऑगस्ट १८९४) इनकी जीवनयात्रा का अंतिम दिन था। उसी दिन, ३८ वर्ष की उम्र में, रात के दस बजे के क़रीब, इनका शरीरपात हुआ। इनके मरने पर सभी हिंदी-अख़बारों ने शोक-सूचक लेख लिखे। कविताएँ भी बहुत-सी प्रकाशित हुईं। इनके कोई संतति नहीं। इनकी विधवा अभी तक विद्यमान हैं। इनके पूर्वजों के उपार्जित दो-तीन मकान कानपूर में हैं। शायद उन्हीं के किराए पर इनका गुज़र होता है। मरने के पहले कुछ काल के लिये प्रतापनारायण बाँकीपुर चले गए थे। इन पर बाबू रामदीन सिंह की कृपा थी। इसीलिये यह वहाँ गए थे। जैसा ऊपर लिखा गया है, इनकी प्रायः सभी किताबें खड्गबिलास-प्रेस के मालिक ही छापते और बेचते हैं। मालूम नहीं, उन्होंने पंडित प्रतापनारायण की विधवा की कुछ मदद की या नहीं।

प्रतिभा, परिहास-प्रीति, नाट्य-कौशल आदि

कोई-कोई कहते हैं कि प्रतापनारायण संस्कृत भी अच्छी जानते थे और फ़ारसी भी। किसी-किसी के मुँह से हमने सुना है कि वह अरबी तक जानते थे। परंतु जो लोग उनके पास हमेशा बैठते-उठते थे उनका मत है कि वह अरबी नहीं जानते थे। उर्दू में तो वह बहुत अच्छी कविता करते थे। मुशायरों तक में जाते थे। 'दीवाने-बिरहमन' में उनकी उर्दू-कविता संगृहीत है। संस्कृत में भी उनके नाम से कुछ कविता छपी है और फ़ारसी में भी। पर इस बात की तहक़ीक़ात करने की हम कोई ज़रूरत नहीं देखते कि वह इन भाषाओं में कितनी गति रखते थे। कवि के लिये जिस बात की सबसे अधिक ज़रूरत होती है वह प्रतिभा है। और इसमें कोई संदेह नहीं कि

प्रतापनारायण में प्रतिभा थी; और थोड़ी नहीं, बहुत थी। विद्वत्ता होने से कविता-शक्ति में कोई विशेषता नहीं आ सकती; उलटा हानि चाहे उससे कुछ हो जाय। प्रतापनारायण की कविता में प्रतिभा का प्रमाण अनेक जगह पर मिलता है। उनकी कोई-कोई उक्तियाँ बहुत ही अनोखी और नई हैं। उनकी कविता में विशेष करके हास्य-रस का बहुत ही अच्छा परिपाक होता था। वह बड़ी शीघ्रता से छंदोरचना कर सकते थे। जैसा पहले कहा गया है, कानपूर में बहुधा लावनीबाज़ों के दो दलों में लावनी-बाज़ी हुआ करती थी। कभी एक दलवाले उनको अपनी तरफ़ बिठा लेते थे और उस दल की इच्छा के अनुसार, विरोधी दल का गाना समाप्त होते-होते, वह नई लावनी तैयार कर देते थे। कभी दूसरे दलवाले भी ऐसा ही करते थे। कई दफ़े उन्होंने नाटक भी खेला था। उसमें उन्होंने अपनी हास्यमयी कविता से दर्शकों को खूब हँसाया था। फागुन में इकतारा लेकर वह उपदेश-पूर्ण, पर हास्य-जनक, होली, कबीर और पद आदि गाते थे। वह बहुत जल्द कविता करते थे। यथासमय कविता बनाकर लोगों को वह मोहित कर देते थे। एक दफ़े एक साधु ने यह पद गाया—

"तजहु मन हरि-बिमुखन को संग ;
जिनकी संगति सदा पायके परत भजन में भंग"।

प्रतापनारायण ने इस पूरे पद के मतलब को बिलकुल ही उलट करके इस तरह गाया—

"तजहु मन हरि-भक्तन को संग ;
जिनकी संगति सदा पायके होत रंग में भंग।"

इसी तरह सारे पद के अर्थ को इन्होंने बदल दिया। यह पूरे मसख़रे थे।

यदि पंडित प्रतापनारायण मिश्र के जीवन-चरित में यह न

लिखा जाय कि वह बड़े ही दिल्लगीबाज़ और किसी अंश में फक्कड़ थे तो वह चरित अवश्य ही अपूर्ण समझा जायगा। एक बार नाटक में उनको स्त्री का रूप लेना था। इसलिये मूछों का मुड़वाना ज़रूरी था। आप बड़े भक्ति-भाव से अपने पिता के सामने हाज़िर हुए और बोले—"यदि आज्ञा दीजिए तो इनको मुड़वा डालूँ। इनका मुड़वाना ज़रूरी है। परंतु मैं अनाज्ञाकारी नहीं बनना चाहता।" पिता ने हँसकर आज्ञा दे दी।

पंडित प्रतापनारायण नाटक खेलने के विशेष प्रेमी थे और जब-जब वह नाटक खेले, तब-तब उनके चातुर्य की प्रशंसा हुई। एक बार उन्होंने "उर्दू-बीबी" का पार्ट लिया था। उस समय उनके और मुसलमान-वेश्या के वेश में कोई अंतर न था। दर्शकों में बैठी हुई एक प्रसिद्ध वेश्या से "बुआ सलाम" कहकर उन्होंने सलाम किया तो वह सहसा बोल उठी "बेटी जीती रह।"

प्रतापनारायणजी बाज़ारों में धर्म-शिक्षा देनेवाले पादरियों से बहुत उलझा करते और उनको खूब छकाते थे। उनकी तर्क-शक्ति खूब प्रबल थी। एक बार आप कह बैठे कि दुनिया की प्रथम पुस्तक कोक-शास्त्र है! पादरी के प्रश्न पर आपने इस शास्त्र के सिद्धांतों का परिचय देकर बहुत-से सामान्य धर्म, कर्म उसी के अंदर कह सुनाए। यह सब सुनकर पादरी साहब बहुत ही छके।

एक दिल्लगी और सुनिए। एक दिन पादरी साहब से और उनसे इस तरह बातचीत हुई—

पादरी—आप गाय को माता कहते हैं?

प्रताप—जी हाँ।

पादरी—तो बैल को आप चचा कहेंगे?

प्रताप—बेशक—रिश्ते से क्या इनकार है?

पादरी—हमने तो एक दिन अपनी आँखों एक बैल को मैला खाते देखा था।

प्रताप—अजी साहब, वह बैल ईसाई हो गया होगा! हिंदू-समाज में ऐसे भी बैल होते हैं!

पादरी साहब चुप हो रहे। कहते ही क्या?

एक बार कानपूर की म्युनिसिपलिटी में इस बात पर विचार हो रहा था कि भैरव-घाट में मुर्दे बहाए जायँ या नहीं। गंगाजी का प्रवाह उस घाट से कानपूर की बस्ती की ओर है। तरह-तरह के प्रस्ताव होते-होते किसी ने कहा कि जले हुए मुर्दे की पिंडी यदि इतने इंच से अधिक न हो तो बहाई जाय। दर्शकों में प्रतापनारायण भी उपस्थित थे। आप खड़े होकर बोल उठे—"अरे दैया रे दैया! मरेउ पर छाती नापी जाई!"

सुनते हैं, ये साँस बंद करके घंटों तक मुर्दा-से पड़े रहते थे। जिस अंग को चाहते थे (यथा एक कान या दोनों) उसे यह यथेच्छ हिलाते या फड़काते थे। ऐसा करने में और अंग स्थिर रहते थे। इससे किसी-किसी का मत है कि यह योग-विद्या जानते थे। पर प्रतापनारायण के ऐसे आहार-विहार करनेवाले का योगी होना कुछ असंभव-सा जान पड़ता है।

निदान, प्रतापनारायण स्वतंत्र थे, फक्कड़ थे, हिंदी और हिंदुस्तान और कांग्रेस के परम भक्त थे। अच्छे कवि, लेखक और उत्साही थे। प्रारब्ध ने इनको अधिक नहीं जीने दिया, नहीं तो इनसे समाज को अनेक लाभ पहुँचने की आशा थी।

हिंदी की हिमायत

यह कहने की ज़रूरत नहीं कि यह हिंदी के बहुत बड़े हिमायती थे। हिंदी के पक्ष में इन्होंने "ब्राह्मण" में बहुत दफ़े अच्छे-अच्छे लेख लिखे। एक दफ़े "फ़तेहगढ़-पंच" ने इनकी हिमायत के

ख़िलाफ़ कुछ लिखा और हिंदी में दोषोद्भावना की। इस पर प्रताप-नारायण जामे से बाहर हो गए। आपने "पंच" की दलीलों का बड़ी ही योग्यता से खंडन किया। कई महीने तक यह विवाद जारी रहा और प्रतापनारायण "पंच" की बे सिर-पैर की बातों की असा-रता दिखलाते रहे। हिंदी के विषय में आपका उपदेश यह था—

"चहहु जो साँचौ निज कल्यान ;
तो सब मिलि भारत-संतान।
जपो निरंतर एक ज़बान ;
हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान ॥ १ ॥
तबहिं सुधरिहै जन्म-निदान ;
तबहिं भलो करिहै भगवान।
जब रहि है निशि दिन यह ध्यान ;
हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान ॥ २ ॥"

इससे इनका देशाभिमान भी सिद्ध होता है।

कविता के नमूने

पंडित प्रतापनारायण की कविता के कुछ नमूने देकर हम इस लेख को पूरा करना चाहते हैं—

ब्राडला-स्वागत

"नोन, तेल, लकड़ी, घासहु पर टिकट लगै जहँ ;
चना, चिरौंजी मोल मिलै जहँ दीन प्रजा कहँ।
जहाँ कृषी, वाणिज्य, शिल्प, सेवा सब माहीं ;
देशिन के हित कछू तत्त्व कहुँ कैसहु नाहीं ॥ १ ॥
कहिय कहाँ लग, नृपति दबे हैं जहँ ऋन-भारन ;
तहँ तिनकी धन-कथा कौन जो गृही सधारन।
जे अनुशासन करन हेत इत पठए जाहीं ;
वे बहुधा निज काज प्रजा सों मिलत लजाहीं ॥ २ ॥"

लोकोक्ति-शतक

"छोड़ि नागरी सुगुणआगरी उर्दू के रँग राते ;
देशी वस्तु विहाय विदेशिन सों सर्वस्व ठगाते।
मूरुख हिंदू कस न लहैं दुख जिनकर यह ढँग दीठा ;
'घर की खाँड़ खुरखुरी लागै चोरी का गुड़ मीठा' ॥ १ ॥
नहिं सीखत सद्गुण करि नेम,
निज हठ तजि न प्रचारत प्रेम,
परदेशिन सेवत अनुरागे,
'सब फल खाय धतूरन लागे' ॥ २ ॥"

तृप्यंताम्

"केहि विधि वैदिक कर्म होत कब
कहा बखानत ऋक्, यजु, साम ;
हम सपने हूँ में नहिं जानैं
रहैं पेट के बने गुलाम।
तुमहिं लजावत जगत जनम लै
दुहुँ लोकन में निपट निकाम ;
कहैं कौन मुख लाय हाय फिरि
ब्रह्मा बाबा तृप्यंताम् ॥ १ ॥
देख तुम्हारे फ़रज़ंदों का
तौरो-तरीक़ तुआमो कलाम ;
ख़िदमत कैसे करूँ तुम्हारी
अक़्ल नहीं कुछ करती काम।
आबे-गंग नज़र गुज़रानूँ
या कि मये गुलगूँ का जाम ;
मुंशी चितरगुपत साहब
तसलीम कहूँ या तिरपिंताम् ॥ २ ॥"

इन नमूनों से प्रतापनारायण का स्वदेश और स्व-भाषा-संबंधी प्रेम टपका पड़ता है। स्वदेश-दशा का चित्र भी इनमें अच्छा देख पड़ता है।

फुटकर कविता

अपने लेखों और चिट्ठियों में यह कभी-कभी बैसवारे की अपनी ठेठ देहाती बोली के वाक्य लिख दिया करते थे। उनमें अपूर्व रस भरा रहता था। इस तरह की देहाती बोली में इन्होंने कुछ कविता भी की है। ऐसी कविता का एक नमूना सुनिए।

एक वृद्ध आदमी अपनी दशा का वर्णन करता है—

"हाय बुढ़ापा तोरे मारे
अब तो हम नकन्याय गयन ;
करत धरत कुछु बनतै नाहीं
कहाँ जान औ कैस करन।
छिन भरि चटक छिनै माँ मद्धिम
जस बुझात खन होय दिया ;
तैसे निखवख देखि परत हैं
हमरी अकिल के लच्छन ॥ १ ॥
अस कुछु उतरि जाति है जीते
बाजी बेरिया बाजी बात ;
कैसेउ सुधि ही नाहीं आवति
मूड़इ काहे न दै मारन।
कहा चहौ कुछु निकसत कुछु है
जीभ राँड का है यहु हालु ;
कोऊ याको बात न समुझै
चाहै बीसन दाँय कहन ॥ २ ॥

दाढ़ी नाक याक माँ मिलि गै
बिन दाँतन मुँहुँ अस पोपलान ;
दढ़िही पर बहि-बहि आवति है
कबौं तमाखू जो फाँकन।
बार पाकि गे रीरौ झुकि गै
मूड़ौ सासुर हालन लाग ;
हाथ-पाँय कुछु रहे न आपनि
केहिके आंग दुख रवावन॥ ३॥
यही लगुठिया के बूते अब
जस तस डोलित-डालित है ;
जेहिका लैके सब कामन माँ
सदा खखारत फिरत रहन।
जियत रहैं महराज सदा जो
हम ऐस्यन का पालति हैं ;
नाहीं तो अब को धौं पूछै
केहिके कौने काम के हन॥ ४॥"

इस कविता में बुढ़ापे का बहुत ही अच्छा फ़ोटो है। कविता ख़ूब सरस है। पर हमें डर है कि जो इस बोली को अच्छी तरह नहीं जानते वे इसका पूरा-पूरा मज़ा न पावेंगे। जिन लोगों का यह ख़याल है कि किसी विशेष प्रकार की भाषा या बोली में ही अच्छी और सरस कविता हो सकती है वे देखें कि महागँवारी बोली में भी रसवती कविता हो सकती है। पर, हाँ, कवि प्रतिभा-वान् होना चाहिए। प्रतापनारायण ने आल्हा तक में कविता की है और वह भी सरस और हृदयहारिणी है। कानपूर के दंगल पर उन्होंने एक पुस्तक ही लिख डाली है। इस पुस्तक में आदि से अंत तक आल्हा ही है। इसके सिवा, कानपूर पर भी, आल्हा-

छंद में, आपने कविता की है। इस पिछली कविता का गोरक्षा-विषयक एक नमूना देखिए—

"गैया माता तुमका सुमिरौं
कीरति सबते बड़ी तुम्हारि ;
करौ पालना तुम लरिकन कै
पुरिखन बैतरनी देउ तारि।
तुम्हरे दूध दही की महिमाँ
जानैं देव पितर सब कोय ;
को अस तुम बिन दूसर जेहिका
गोबर लगे पबित्तर होय ॥ १ ॥
जिनके लरिका खेती करिकै
पालैं मनइन के परिवार ;
ऐसी गाइन की रच्छया माँ
जो कुछु जतन करौ सो थ्वार।
घास के बदले दूध पियावैं
मरिकै देंय हाड़ औ चाम ;
धनि वह तन मन धन जो आवै
ऐसी जगदंबा के काम ॥ २ ॥
आल्हखंड की पोथी लैकै
द्याखौ तनुक लिखा कस आय ;
"जहाँ रोसैंयाँ है ऊदन कै
भूखा मुगुल पछौरै गाय।"
को अस हिंदू ते पैदा है
जो अस हाल देखि एकसाथ ;
रकत के आँसन रोय न उठिहै
माथे पटकि दुहत्था हाथ ॥ ३ ॥

सब दुख-सुख तो जैसे-तैसे
गाइन की नहिं सुनै गुहार ;
जब सुधि आवै मोहिं गैयन की
नैनन बहै रकत की धार।
हियाँ की बातैं तो हियनैं रहि गईं
अब कंपू के सुनौ हवाल ;
जहाँ के हिंदू तन मन धन ते
निस-दिन करैं धरम प्रतिपाल ॥ ४ ॥"

प्रतापनारायण के आल्हा का नमूना आप देख चुके। अब उनकी भक्ति-रस में शराबोर कविता का एक उदाहरण लीजिए—

"आगे रहे गनिका, गज, गीध
सु तौ अब कोऊ दिखात नहीं हैं।
पापपरायन ताप-भरे
परताप समान न आन कहीं हैं।
हे सुखदायक प्रेमनिधे
जग यों तो भले औ बुरे सबही हैं ;
दीनदयाल औ दीन प्रभो
तुम-से तुमहीं हम-से हमहीं हैं ॥१॥"

इस पद्य की हम तारीफ़ नहीं कर सकते। सरस कविता का यह बहुत ही अच्छा नमूना है।

उर्दू की कविता

अब इनकी थोड़ी-सी उर्दू-कविता सुनिए। यह कविता एक तरह के समस्या-समूह की पूर्ति है। इसमें पहली पंक्ति इनकी है, दूसरी और किसी की। पर, मेल दोनों का खूब मिल गया है—

ग़ज़ल

"वह बद खू राह क्या जाने वफ़ा की।

"अगर ग़फ़लत से बाज़ आया जफ़ा की" ॥ १ ॥
न मारी गाय गोचारन किया बंद।
"तलाफ़ी की जो ज़ालिम ने तो क्या की" ॥ २ ॥
मियाँ आए हैं बेगारी पकड़ने।
"कहे देती है शोख़ी नक़्शे पा की" ॥ ३ ॥
पुलिस ने और बदकारों को शह दी।
"मरज़ बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की" ॥ ४ ॥
जो काफ़िर कर गया मंदिर में बिदअ़त।
"वो जाता है दुहाई है ख़ुदा की" ॥ ५ ॥
शबे क़त्ल आगरे के हिंदुओं पर।
"हक़ीक़त खुल गई रोज़े जज़ा की" ॥ ६ ॥
खबर हाकिम को दें इस फ़िक्र में हाय।
"घटा की रात और हसरत बढ़ा की" ॥ ७ ॥
कहा अब हम मरे साहब कलक्टर।
"कहा मैं क्या करूँ मरज़ी ख़ुदा की" ॥ ८ ॥
ज़मीं पर किसके हो हिंदू रहें अब।
"ख़बर ला दे कोई तहतुस्सरा * की" ॥ ९ ॥
कोई पूछे तो हिंदुस्तानियों से।
"कि तुमने किस तवक़्क़ा पर वफ़ा की" ॥ १० ॥
उसे मोमिन न समझो ऐ बरहमन।
"सताए जो कोई ख़िलक़त ख़ुदा की" ॥ ११ ॥"

यह १९ दिसंबर, १८८३ के "ब्राह्मण" में प्रकाशित हुई थी। उस समय गोरक्षा-विषयक खूब चर्चा चल रही थी। आगरे में हिंदू-मुसलमानों के बीच झगड़ा भी उसी दर्मियान में हुआ था।

---

* तहतुस्सरा=पाताल।

बेगारी-पकड़ने के विषय में भी "ब्राह्मण" में कई लेख निकले थे। इन्हीं बातों को लक्ष्य करके "बरहमन" साहब ने यह ग़ज़ल गाई थी। उर्दू में आप अपना तख़ल्लुस "बरहमन" लिखते थे। इसी तरह की एक और कविता सुन लीजिए—

"विवादी बढ़े हैं यहाँ कैसे-कैसे।
"कलाम आते हैं दरमियाँ कैसे-कैसे" ॥ १ ॥
जहाँ देखिए म्लेच्छ-सेना के हाथों।
"मिटे नामियों के निशाँ कैसे-कैसे" ॥ २ ॥
बने पढ़ के गौरंड-भाषा द्विजाती।
"मुरीदाने पीरे-मुग़ाँ कैसे-कैसे" ॥ ३ ॥
बसो मूर्खते देवि आर्यों के जी में।
"तुम्हारे लिये हैं मकाँ कैसे-कैसे" ॥ ४ ॥
अनुद्योग, आलस्य, संतोष, सेवा।
"हमारे भी हैं मेहरवाँ कैसे-कैसे" ॥ ५ ॥
न आई दया ××× गो-भक्षियों को।
"तड़पते रहे नीमजाँ कैसे-कैसे" ॥ ६ ॥
विधाता ने याँ मक्खियाँ मारने को।
"बनाए हैं ख़ुशरू जवाँ कैसे-कैसे" ॥ ७ ॥
अभी देखिए क्या दशा देश की हो।
"बदलता है रँग आसमाँ कैसे-कैसे" ॥ ८ ॥
हैं निर्गंध इस भारती-वाटिका के।
"गुलो लाला ओ अरगवाँ कैसे-कैसे" ॥ ९ ॥
हमें वह दुखद हाय भूला है जिसने।
"तवाना किए नातवाँ कैसे-कैसे" ॥ १० ॥
प्रताप अब तो होटल में निर्लज्जता के।
"मज़े लूटती है ज़बाँ कैसे-कैसे" ॥ ११ ॥"

शृंगार-रस की कविता

कानपूर के कवियों ने जो "रसिक-समाज" नाम का कवि-समाज स्थापित किया था उसके प्रतापनारायणजी बड़े उत्साही मेंबर थे। जब तक वह उनके सामने चला, उसमें प्रायः समस्यापूर्ति ही का उद्योग रहा। "रसिक वाटिका" * नाम की पुस्तक की एक जिल्द में इस समाज के काव्य-कलाप के साथ प्रतापनारायण की जो कविता छपी है उससे हम उनके कुछ पद्य चुनकर पाठकों को भेट करते हैं। प्रतापनारायण श्रृंगार-रस के भी प्रेमी थे। ये उदाहरण भी उसी रस के हैं—

(पपिहा जब पूछि है पीव कहाँ)

"बन बैठी है मान की मूरति-सी
मुख खोलत बोलै न 'नाहिं' न 'हाँ';
तुमहीं मनुहारि कै हारि परे
सखियान की कौन चलाई कहाँ।
बरखा है प्रतापजू धीर धरौ
अबलौं मन को समुझायो जहाँ;
यह ब्यारि तबै बदलैगी कछू
पपिहा जब पूछिहै पीव कहाँ ॥ १ ॥"

(वीर बली धुरवा धमकावैं)

"बूड़ि मरैं न समुद्र में हाय
ये नाहक हाथ निछीछे डुबावैं;
का तजि लाज गराज किए

* जब सन् १८९७ ईसवी में कानपूर में कविसमाज की स्थापना की गई, तब प्रतापनारायणजी की रुचि पर ध्यान रखकर ही उसका नाम "रसिकसमाज" और उसकी पत्रिका का नाम "रसिक वाटिका" रक्खा गया।

मुख कारो लिए इत-ही-उत धावैं।
नारि दुखारिन पै बजमारे
वृथा बुँदियान के बान चलावैं;
बीर हैं तौ बलबीरहि जायकै
बीर बली धुरवा धमकावैं ॥ २ ॥"

(बजनी घुँघुरू रजनी उजियारी)
"आसवँ छाकि खुली छति पै
खुलि खेलति जोबन की मतवारी;
गात-ही-गात अदा-ही-अदा
कढ़ै बात-ही-बात सुधा सुखकारी।
रंग रचै रस राग अलापि
नचै परताप गरे भुजडारी;
ता छिन छावै अजीब मजा
बजनी घुँघुरू रजनी उजियारी ॥ ३ ॥"

(देह धरे को यहै फल भाई)
"नैनन में बसैं साँवरो रूप
रहै मुख नाम सदा सुखदाई;
त्यों श्रुति में ब्रज-केलि-कथा
परिपूरण प्रेम प्रताप बड़ाई।
कोऊ कछू कहै होय कहूँ कछु
पै जिय में परवाहि न लाई;
नेह निभै नँदनंदन सों नर-
देह धरे को यहै फल भाई ॥ ४ ॥"

(धुरवान की धावन सावन में)
सिर चोटी गुँधावती फूलन सों
मेंहदी रचि हाथन-पाँवन में;

परताप त्यों चूनरी सूही सजी
मन मोहती हावन भावन में।
निस-द्यौस बितावती पीतम के सँग
झूलन में औ झुलावन में ;
उनहीं को सुहावन लागत है
घुरवान की धावन सावन में॥ ५॥

शकुंतला

पंडित प्रतापनारायण ने शकुंतला का जो अनुवाद हिंदी में किया है वह अनुवाद नहीं कहा जा सकता ; हाँ स्वतंत्र या स्वच्छंद अनुवाद कहा जा सकता है। मूल के भावों को इन्होंने अनुवाद में बहुत कुछ घटा-बढ़ा दिया है। इस बात को उन्होंने भूमिका में स्वीकार किया है। ऐसा करने से अगर कहीं-कहीं मूल का मज़ा जाता रहा है तो कहीं-कहीं अधिक भी हो गया है। हम यह नहीं कह सकते कि यह अनुवाद सब कहीं अच्छा ही हुआ है ; पर इसका अधिक अंश रोचक, रसवान् और मनोहर है। इस अनुवाद का एक नमूना देकर हम 'प्रेमदास' 'प्रताप हरि' से बिदा होंगे—

चौथे अंक की बात है। कण्व प्रवास से वापस आ गए हैं। उनकी आज्ञा से उनका शिष्य यह देखने के लिये कुटी से बाहर निकला है कि कितनी रात बाक़ी है। इधर-उधर देखने पर उसे मालूम हुआ कि प्रातःकाल हो गया। तब वह कहता है—

"यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
माविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु॥ १॥
अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।

इष्टप्रवासजनितान्यबलाजनस्य
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःसहानि ॥ २ ॥"

भावार्थ—जिन ओषधियों का सेवन बड़े-बड़े भयंकर रोगों का—नहीं, मृत्यु तक का—नाश कर सकता है उन्हीं का स्वामी, चंद्रमा, एक तरफ़, अस्त हो रहा है। दूसरी तरफ़, जिसकी जंघाएँ (रानें) तक नहीं ऐसे अनुरूप सारथी को रथ के आगे बिठलाकर सूर्य उदित हो रहा है। इस प्रकार एक ही साथ, दो तेजस्वी पिंडों की संपदा और विपदा को दिखाकर, अपनी-अपनी अवस्थाविशेष में, मनुष्यों का मानो नियमन किया जा रहा है। अर्थात् संपत्ति और विपत्ति के समय किसी को भी हर्ष या विषाद करना उचित नहीं ॥ १ ॥ जो कुमुदिनी अपनी प्रफुल्लित अवस्था में परम शोभामयी थी वही चंद्रमा के अस्त हो जाने पर, मेरी आँखों को अच्छी नहीं लगती। अब उसमें उसकी पहली शोभा नहीं रही। उस शोभा का अब स्मरण-मात्र शेष है; वह दिखाई नहीं देती। सच है, अपने प्रियतम के प्रवासी होने के कारण उत्पन्न हुआ दुःख अबलाओं को अत्यंत दुःसह होता है ॥ २ ॥

प्रतापनारायण ने इसका अनुवाद नहीं किया। सिर्फ़ इसकी छाया लेकर उन्होंने जो कविता लिखी है वह इस प्रकार है—

"प्रभावती

कैसी कमनीय है प्रभा प्रभात काल की।
दिनकर करि इत उजास, इत लहि ससि तेजनास,
कै रहे दसा प्रकास मानो जग-जाल की;
कुमुदिनि सोभा-बिहीन, बिरहिनि इव दुखित दीन,
लागति नैनन मलीन, देखत दिसि ताल की;
दरभ की कुटीन त्यागि, उठहिं मोर जागि-जागि,
बेदिन ढिग लागि-लागि पैंडनि मृगमाल की;

इहि छिन सब साधु-संत, प्रेम-पूरि ह्वै इकंत,
सुमिरत महिमा अनंत त्रिभुवन-महिपाल की॥ १॥

दोहा

तो हमहूँ गुरुदेव सों करैं निबेदन जाय ;
नाथ होम-बेला भई अरुन उदित दरसाय ॥ २ ॥
बदरि बिरिछ के पात पै ओस-बुंद छबि छाय ;
कैसी लगति सुहावनी अरुन-उदय-दुति पाय ॥ ३ ॥

सवैया

सोई निसापति जो गिरि मेरु पै, पाँव धरे बिचरै निसि माहीं ;
त्यों तमतोमहि नासत जासु मरीचिका श्रीहरि-धाम लौं जाहीं।
तेज गँवाय गिरै नभ ते सोउ भोर समै दबिकै रबि पाहीं ;
या जग माहिं बड़हू-बड़न की दीसति है थिर संपति नाहीं ॥ ४ ॥"

प्रतापनारायण का अनुवाद इसी तरह का है। इसी से उसकी योग्यता का अंदाज़ा पाठक कर सकते हैं। पिछला सवैया अपूर्व है; याद रखने लायक़ है; शिक्षा ग्रहण करने लायक़ है।

लिख चुकने पर यह लेख हमने उन सज्जनों को दिखलाया जो प्रतापनारायण से अच्छी तरह परिचित हैं, और जो उनके पास हमेशा बैठा-उठा करते थे। उनकी राय से, जहाँ कहीं संशोधन की ज़रूरत समझी गई वहाँ हमने इसमें संशोधन कर दिया। इस पर भी यदि कोई बात भ्रम से ऐसी लिख गई हो जो ठीक न हो तो पाठक क्षमा करें।

[मार्च १९०६

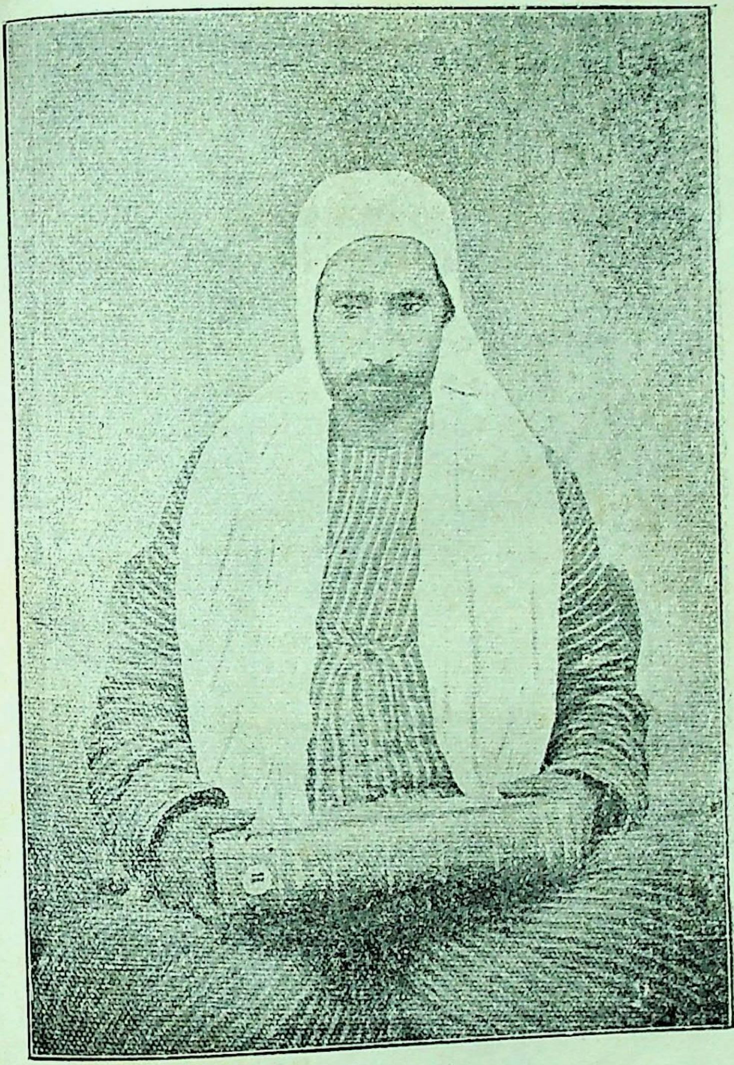
(७)

पंडित सरयूप्रसाद मिश्र

संस्कृत के उत्तम विद्वान् और हिंदी तथा संस्कृत के अनेक ग्रंथों के कर्ता तथा अनुवादक पंडित सरयूप्रसाद मिश्र का गत अगहन-सुदी ४, सोमवार, के दिन शरीर-पात हो गया। पंडितजी वेदांत ही नहीं, किंतु सभी दर्शनों के ज्ञाता थे। क्लिष्ट से भी क्लिष्ट दार्शनिक ग्रंथों का आशय समझने और समझाने में आप एक ही थे। साहित्य-शास्त्र में भी आपकी अच्छी गति थी। सबसे बड़ी बात आपमें यह थी कि संस्कृत के उद्भट विद्वान् होकर भी आपने पंडितों के द्वारा तिरस्कृत हिंदी में कितनी ही पुस्तकें लिखीं। सौम्य भाव, साधुता और सारल्य की आप मूर्ति थे। सादगी आपको बहुत पसंद थी। लोभ आपमें छू तक न गया था। आमरण आप अकिंचन ही रहे; पर धैर्य नहीं छोड़ा; स्वाध्याय में बाधा नहीं आने दी; विद्या-व्यासंग और ग्रंथ-रचना में लगे ही रहे। ऐसे विद्वान् और आदर्श-चरित सज्जन-शिरोभूषण का चरित-चिंतन सर्वथा पुण्यप्रद है।

बनारस में मातादयालु नाम के एक कर्मठ और धर्मनिष्ठ ब्राह्मण रहते थे। उनकी दूसरी पत्नी से उनके तीन कन्याएँ और ग्यारह पुत्र हुए। संवत् १९०९ की कार्तिक-कृष्ण ११ को उनकी स्त्री ने एक पुत्र-रत्न प्रसव किया। उसी साल की रामनवमी पर पंडित मातादयालुजी अयोध्या गए थे। इसी यात्रा के उपलक्ष्य में उन्होंने अपने इस पुत्र का नाम सरयूप्रसाद रक्खा।

डेढ़ वर्ष की उम्र में बालक सरयूप्रसाद बहुत बीमार हुए। जीने



स्वर्गीय पंडित सरयूप्रसाद मिश्र

की आशा जाती रही। तब उनकी मा उन्हें बड़े गणेश के चरणों पर चढ़ाकर घर चली आईं। दिन-भर बालक वहीं पड़ा रहा। शाम को पंडा उसे दे गया और कह गया कि इसे तुम गणेशजी का ही बालक समझकर पालो। बालक धीरे-धीरे नीरोग हो गया। बड़े होने पर जब से यह बात पंडित सरयूप्रसाद को मालूम हुई तब से वह गणेश के बड़े भक्त हो गए। पीछे से उन्होंने, गणेशपुराण के आधार पर, हेरंबचरित-नामक एक काव्य संस्कृत में लिखा।

पंडित सरयूप्रसाद के पिता पुरोहिती करते थे। वह ज्योतिषी भी थे। एक बार किसी धनी मनुष्य का एक दस्तावेज़ खो गया। उसका पता उन्होंने बता दिया। इससे वह बहुत प्रसन्न हुआ। ५००) रुपए पंडित मातादयालुजी को उसने दिए और २) रुपए रोज़ वृत्ति नियत कर दी। इसी रुपए से उन्होंने बाँस के फाटक, हौज़ कटोरा (बनारस), में एक घर ख़रीद लिया।

सरयूप्रसादजी की शिक्षा १२ वर्ष तक यों ही साधारण रीति पर हुई। इसके कुछ ही दिनों बाद उनका विवाह भी हो गया।

बनारस में जो जयनारायण-कॉलेज है, उसके अध्यापक श्रीगोपालु उपासनी उनके विद्या-गुरु थे। उनकी यह बड़ी सेवा-सुश्रूषा करते थे और उपासनी महाशय भी इन पर बड़ी कृपा करते थे। इन्हें बड़े प्रेम से पढ़ाते थे। रात को एक-एक, दो-दो बजे तक यह गुरु के ही स्थान पर रहते। वहाँ यह पढ़ते भी और गुरु की सेवा भी यथाशक्ति करते। बहुत रात बीत जाने पर जब यह घर लौटते, तब कभी-कभी घंटों बाहर ही खड़े रहना पड़ता। माता के जगने पर किवाड़ खुलते; तब यह भीतर जाते।

कोई उन्नीस वर्ष की उम्र में इन्होंने काशी छोड़ी और जबलपुर आए। तब से ३०-३५ वर्ष यह बाहर ही रहे। मरने से केवल दो वर्ष पहले फिर काशी गए। पुरोहिती वृत्ति इन्हें पसंद न थी।

घर में इन्हें अनेक प्रकार की तकलीफ़ें भी थीं। इसी से इन्होंने काशी छोड़ी। जबलपुर में एक नौकरी इन्होंने कर ली। उसके छूटने पर "मिशन" की मेमों को यह पढ़ाने लगे। यहाँ पर अँगरेज़ी का भी कुछ अभ्यास इनको हो गया। काशी में तो इन्होंने संस्कृत-शिक्षा कुछ यों ही-सी प्राप्त की थी। जबलपुर आने पर इन्होंने अपने ही परिश्रम, अध्यवसाय और अवलोकन से अनेक शास्त्रों का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर लिया। विशेष विद्या-प्रेमी होने के कारण कठिन-से-कठिन विषयों में भी इनकी शीघ्र ही गति हो गई। जबलपुर-कॉलेज के प्रधान संस्कृताध्यापक श्रीकैलाशचंद्र दत्त से यहाँ इनका परिचय हुआ। उनके समागम से पंडित सरयूप्रसादजी की ज्ञान-लिप्सा और भी बढ़ी। कितनी ही नई-नई बातें इन्हें मालूम हो गईं। अँगरेज़ी, मराठी और बँगला की सामयिक पुस्तकों के द्वारा भी इन्होंने अपनी योग्यता को बहुत कुछ बढ़ाया।

जबलपुर में कैलाशचंद्र दत्त की सलाह से इन्होंने रघुवंश का हिंदी में पद्यात्मक अनुवाद आरंभ किया। अनुवाद संस्कृत-प्रयुक्त छंदों में करने लगे। पहले तीन सर्गों का अनुवाद बाबू हरिश्चंद्र की कवि-वचन-सुधा में निकला। ८ सर्ग तक का ही अनुवाद यह कर पाए थे कि किसी कारण से आगे का काम बंद करना पड़ा। इसके बहुत दिनों बाद बाबू रामकृष्ण वर्मा के कहने से इन्होंने इस अनुवाद को पूरा किया। इस पुस्तक को पंडितजी खड्गबिलास-प्रेस के मालिक बाबू रामदीनसिंह को समर्पण करनेवाले थे। पर इस समय इन दो में से एक भी सज्जन इस लोक में नहीं। नहीं मालूम, यह अनुवाद छपकर कभी प्रकाशित भी होगा या नहीं। रघुवंश में जो बातें हैं उन्हें कालिदास ने कहाँ से लिया है, इसकी विस्तृत आलोचना भी पंडित सरयूप्रसादजी ने अपने इस अनुवाद के कथा-संग्रह-भाग में की है।

१२ वर्ष तक यह जबलपुर में रहे। इसी बीच में इनकी माता

और बड़े भाई की मृत्यु हुई। कुटुंब का सब भार इन्हीं पर आ पड़ा। तनख़्वाह इनकी बहुत थोड़ी थी। पहले यह पादरियों के आश्रित थे। पीछे से "हितकारिणी-सभा" के स्कूल में एक जगह इन्हें मिल गई थी। अन्यत्र अध्यापना से भी इन्हें कुछ मिल जाता था। इसी थोड़ी-सी आमदनी से यह अपना और अपने कुटुंबियों का पालन करते थे।

१८८४ ईसवी में इलाहाबाद के डिविनिटी-स्कूल के प्रधानाध्यापक, डॉक्टर हूपर, ने इन्हें बुलाया और अपने स्कूल में एक जगह दी। वहाँ, इलाहाबाद में, पंडितजी कोई २० वर्ष रहे। डॉक्टर हूपर विद्वान् थे। वह पंडितजी से सदा संस्कृत ही में भाषण करते थे। यद्यपि पंडितजी ईसाइयों के स्कूलों में अध्यापना करते थे, तथापि उनके धार्मिक विचार ईसाई-धर्म के बहुत ही प्रतिकूल थे। इससे १२ वर्ष डिविनिटी-स्कूल में रहने के अनंतर इन्हें नौकरी से अलग होना पड़ा। यह उस समय की घटना है जब इस स्कूल के अध्यक्ष कार्पेंटर नाम के एक साहब थे।

प्रयाग में पंडितजी ने वैशेषिक-सूत्रों का अनुवाद हिंदी में किया। बाबू ताराप्रसाद, एम्० ए०, को सांख्य पढ़ाया। वेदांत-दर्शन पर भी वहाँ उन्होंने ख़ूब विचार किया। सारांश यह कि वहाँ दर्शन-शास्त्रों के मनन का बहुत अच्छा अवसर पंडितजी को मिला।

बाबू रामदीनसिंह पंडितजी को बहुत चाहते थे। उनके कहने से पंडितजी ने प्राचीन हैहय-वंश की एक विस्तृत वंशावली बड़े खोज से लिखी। ग्रंथ बहुत बड़ा हो गया। उसे बाबू रामदीनसिंह ने डॉक्टर ग्रियर्सन को दिखाया। डॉक्टर साहब देखकर बड़े प्रसन्न हुए। कहा, खेद है, मैंने इन्हें पहले न जाना। उस समय डॉक्टर साहब भारतवर्ष से बिदा हो रहे थे। पंडितजी ने भागवत का अनुवाद भी आरंभ किया था। पर एक स्कंध का अनुवाद करके छोड़ना पड़ा।

क्योंकि बाबू रामदीनसिंह ने पंडितजी की पुस्तकें प्रकाशित करने में कुछ शैथिल्य दिखाया। सहवास-सम्मति का क़ानून जिस समय बनने को था उस समय पंडितजी ने लाला रोशनलाल बारिस्टर की सलाह से धर्मशास्त्रानुयायी एक बहुत बड़ी पुस्तक इस विषय पर लिखी। प्रयाग में पंडितजी की पत्नी का शरीर-पात हुआ। और भी कितने ही कष्ट इन्हें झेलने पड़े। इनकी जेठी पुत्र-वधू, ६ दिन के एक शिशु बालक को छोड़कर, परलोक सिधारी। उसका पालन करनेवाली और कोई कुटुंबीय स्त्री घर में न थी। इससे पंडितजी ने घबराकर बालक को लाला रोशनलाल की पत्नी श्रीमती हरदेवी को दे दिया। वह अब तक उन्हीं के पास लाहौर में है।

अनेक शारीरिक और मानसिक व्यथाओं के कारण, कुछ दिन बाद, पंडितजी को घोर निद्रानाश-रोग हुआ। इससे बहुत दिनों तक पीड़ित रहने के अनंतर अंडी का तेल सिर पर रगड़ने से रोग शांत हुआ।

डिविनिटी-स्कूल से नौकरी छूटने पर पंडितजी राय ईश्वरीप्रसाद के आश्रय में रहे। आप राय साहब के लड़कों को सदुपदेश देने और उनकी देख-भाल करने पर नियत हुए। पंडितजी के पुत्र उस समय ऊँचे दरजों में पढ़ते थे। वे राय साहब के लड़कों को घर पर पढ़ाने भी लगे। इससे राय साहब यथेष्ट सहायता करने लगे। परंतु एक छोटी-सी बात पर इन्होंने राय साहब का आश्रय छोड़ दिया। इसके बाद चौधरी महादेवप्रसाद और बाबू रामदीन-सिंह ने इनकी मदद की।

कुछ काल के उपरांत पंडितजी के पुत्र समर्थ हुए। चार-पाँच पुत्रों में दो-एक अपने-अपने काम से लग गए। पर उनसे सहायता लेना पंडितजी ने पसंद न किया। वह कथा बाँचकर और गीता आदि के सिद्धांत श्रोताओं को सुनाकर अपनी जीविका का निर्वाह करने लगे।

पंडित आदित्यराम भट्टाचार्य के प्रबंध से पंडितजी अंत को काशी

गए। वहाँ पहले हिंदू-कॉलेज के लड़कों को मुफ़्त में धर्मोपदेश करते थे। फिर रणवीर-पाठशाला में अध्यापन का काम करने लगे। इस समय भी उन्हें राय ईश्वरीप्रसाद से ही धन-साहाय्य मिलता था।

इस बीच में आरे की नागरीप्रचारिणी-सभा की प्रार्थना पर पंडितजी एक हिंदी-व्याकरण लिखने का उपक्रम करने लगे। पर उनके तृतीय पुत्र श्रीमंगल मिश्र की मृत्यु तथा और कई अन्य कारणों से वह काम न चल सका। इस बीच में पंडितजी का पौत्र, श्रीमंगल मिश्र का एक पुत्र, भी न रहा। गरमी भी बहुत पड़ती थी। इन्हीं कारणों से पंडितजी को फिर उन्निद्र-रोग हुआ। धीरे-धीरे उन्माद के चिह्न देख पड़ने लगे। इसी रोग से उनका शरीरांत हो गया।

पंडितजी के जीवित पुत्रों में से इस समय एक एम्० ए०, एक बी० ए०, एक एफ़्० ए० और एक एंट्रंस पास हैं। इनको पंडितजी ने बड़ी-बड़ी कठिनाइयाँ उठाकर शिक्षा दी। यह बाल-विवाह के विरोधी थे। १८ वर्ष की उम्र के पहले अपने पुत्रों का विवाह नहीं किया। ३८ वर्ष की उम्र में पत्नी-वियोग होने पर अपना पुनर्विवाह न किया। सारी उम्र निर्धन अवस्था में काटी। पर सदाचार और सच्चरित्रता से नहीं विचलित हुए। संस्कृत के दिग्गज पंडित होने पर भी इन्होंने हिंदी में ग्रंथ लिखे। इनकी कविता में सरसता कुछ कम है। इसी से उसका यथेष्ट प्रचार नहीं हुआ। 'कवि-वचन-सुधा', 'हिंदी-प्रदीप' और 'शुभचिंतक' में इनके कितने ही लेख प्रकाशित हुए हैं।

पंडित सरयूप्रसादजी दर्शन-शास्त्री होकर भी भक्ति-मार्ग के अनुयायी थे।

श्रीकैलाशचंद्र दत्त और महामहोपाध्याय पंडित आदित्यराम भट्टाचार्य को कई पुस्तकें बनाने में इन्होंने सहायता दी। इनकी

लिखी और अनुवाद की हुई कोई २५ पुस्तकें हैं। उनमें से कोई आधी ही छपी हैं; शेष अप्रकाशित पड़ी हैं।—

इनकी कुछ पुस्तकों के नाम हम नीचे देते हैं—

(१) रघुवंश का पद्यात्मक अनुवाद
(२) वैशेषिक सूत्रों का अनुवाद
(३) दर्शनशास्त्र की उपक्रमणिका
(४) आख्यान-मंजरी
(५) हेरंब-चरित
(६) हैहय-वंश-विस्तार
(७) प्राकृत-प्रकाश
(८) भक्तिसंग्रह
(९) जयदेव-चरित
(१०) पाणिनि का जीवन-चरित और काल-निर्णय

इनकी संस्कृत-कविता के उदाहरण में हेरंब-चरित का एक श्लोक सुनिए—

"यदा भयेन त्रिपुरस्य मन्दरात् पलायिता मारिषसर्वमङ्गला ;
तदा द्रुतं दुर्गममार्गलंघिनी ययौ शरण्या शरणं हिमालयम् ।"

हिंदी-कविता का एक उदाहरण रघुवंश के आठवें सर्ग से—

"प्रिय शिष्य कला रसाल में
गृहिणी मंत्रि इकंतसंगिनी ;
मम सर्वसु तोहिं लूटते
नहिं छाती फटि काल क्रूर की।"

खेद है, काशी में दो वर्ष तक रहने पर भी, हिंदी के हितैषियों ने इनसे कुछ काम न लिया।

[एप्रिल १९०८

(८)

महामहोपाध्याय सामंत श्रीचंद्रशेखरसिंह

इस समय इस देश के ज्योतिषियों में फ़ी-सैकड़ा ९५ ऐसे हैं जो जन्मपत्रिका बनाकर, अथवा शुद्धाशुद्ध पंचांग लिखकर, अथवा शीघ्रबोध या मुहूर्तचिंतामणि के बल पर यज्ञोपवीत, विवाह और विदेश-यात्रा आदि का मुहूर्त बतलाकर अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। परंतु किसी समय यहाँ ऐसे-ऐसे भी गणकराज थे जिन्होंने ज्योतिष-विद्या-संबंधिनी नवीन-नवीन कल्पनाओं से दुनिया-भर को चकित कर दिया था। ग्रीस को छोड़कर जब योरप के दूसरे देश-वाले जंगलों की हवा खा रहे थे तब हमारे आर्यभट्ट, पाटलिपुत्र में बैठे-बैठे, तेईस ही वर्ष की उम्र में, पृथ्वी की दैनिक गति का हिसाब लोगों को समझाते थे। आर्यभट्ट ४७६ ईसवी में हुए। उन्होंने नए-नए सिद्धांत स्थिर करके ज्योतिष-विद्या की खूब उन्नति की। आर्यभट्ट के पीछे ५०५ ईसवी के लगभग, उज्जैन में, वराह-मिहिर का उदय हुआ। वे पंचसिद्धांतिका-नामक ग्रंथ लिख-कर, तब तक जाने गए ज्योतिष के सिद्धांतों को एकत्र कर दिया। ६२८ ईसवी में ब्रह्मगुप्त ने रीवाँ के पास, कहीं पर, ब्रह्मस्फुट-सिद्धांत बनाया। उस समय उनकी उम्र सिर्फ़ ३० वर्ष की थी। ज्योतिष के पुराने सिद्धांतों में जो न्यूनता देख पड़ी वह ब्रह्मगुप्त ने पूरी की। इस समय जैसी ज्योतिष-विद्या देखने में आती है उसका आरंभ ब्रह्मगुप्त ही से मानना चाहिए। बीजगणित में ब्रह्मगुप्त अद्वितीय थे। अरबवालों ने उन्हीं से यह विद्या सीखी।

१११४ ईसवी के लगभग, सह्याद्रि-पर्वत के पास जन्म लेकर,

भास्कर ने अपने पूर्ववर्ती ज्योतिषियों की प्रभा को अपनी भास्वर प्रभा से मलिन कर दिया। भास्कर बहुत बड़े ज्योतिषी हुए। इसीलिये वह भास्कराचार्य कहलाए। उनकी जन्म-भूमि खान-देश में, चालीसगाँव के पास, शायद कहीं थी। चालीसगाँव के दक्षिण-पश्चिम पटना-नामक एक गाँव उजाड़ पड़ा है। वहाँ पर देवी का एक मंदिर है; वह भी भग्नावस्था में है। उस मंदिर में एक शिला-लेख है। उसमें लिखा है कि भास्कर के पौत्र चंगदेव ने, शक ११२८ में, अपने पितामह के ग्रंथों के प्रचार के लिये, एक मठ बनवाया। वह सिंघण-नामक राजा के यहाँ ज्योतिषी था। शिला-लेख में लिखा है—

"तस्मात्सुतः सिंघणचक्रवर्तिदैवज्ञवर्योऽजनि चंगदेवः;
श्रीभास्कराचार्यनिबद्धशास्त्रविस्तारहेतोः कुरुते मठं यः।"

सो अपने पौत्र ही के समय में भास्करजी आचार्य-पदवी को पहुँच गए थे और उनके ग्रंथ इतने मूल्यवान् समझे जाने लगे थे कि उनके पढ़ाने के लिये एक मठ तक बन गया था। भास्कर भारतवर्ष के ज्योतिराकाश में सच्चे भास्कर हैं। योरप के ज्योतिर्विद् भी उनको आश्चर्य और सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। उनका सिद्धांतशिरोमणि, आज भी, ज्योतिष-शास्त्र का प्रधान सिद्धांत-ग्रंथ माना जाता है। भास्कर के अस्त होने पर फिर इस देश में कई सौ वर्ष तक एक भी ज्योतिषी नाम लेने लायक़ न हुआ। १५२० ईसवी में नंदिग्राम-वासी गणेश दैवज्ञ ने ग्रह-लाघव लिखकर कुछ नाम पाया। सत्रहवीं शताब्दी में जयपुर के महाराजा जयसिंह ने ज्योतिर्विद्या की विशेष उन्नति की। उन्होंने भिन्न-भिन्न शहरों में पाँच वेधशालाएँ बनवाईं और यूक्लिड (रेखागणित) का अरबी से संस्कृत में अनुवाद कराया। यदि महाराज जयसिंह इस विद्या को करावलंब न देते तो इसकी हालत बहुत ही बुरी

हो जाती। महाराजा जयसिंह के ३०० वर्ष पीछे, इस समय, भारतवर्ष में, एक ऐसा दैवज्ञ रत्न अचानक चमक उठा है जिसके नूतन सिद्धांतों के देदीप्यमान प्रकाश ने देश के भी और विदेश के भी ज्योतिषियों के नेत्रों के सामने चकाचौंध पैदा कर दी है। आपका नाम महामहोपाध्याय सामंत श्रीचंद्रशेखरसिंह है।

सामंत चंद्रशेखर सब तरह पुराने ख़याल के पंडित और पौराणिक रीतियों के अनुगामी होकर भी नए ख़यालातों से घबरानेवाले नहीं हैं। आजकल के पंचांगों में बड़ी गड़बड़ है। एक दूसरे से बहुधा नहीं मिलता। पर, ऋषियों और प्राचीन आचार्यों के निश्चित किए हुए हज़ारों वर्ष के पुराने सिद्धांतों में भ्रम बतलाने का साहस बिरले ही को होता है। प्राचीन ग्रंथों में जो कुछ है वह प्राय: सभी प्रमाण माना जाता है। परंतु पौराणिक होने पर भी चंद्रशेखरजी ने, अपनी विद्या के बल से, तजरुबे और जाँच के बल से, और सत्य को प्रकाशित करने की चेष्टा के बल से, प्राचीन सिद्धांतों की ग़लतियाँ स्पष्ट स्वीकार कर ली हैं। औरऔर विलक्षणताओं के साथ यह विलक्षणता उनमें सबसे बड़ी है। ऐसे विद्वान्, साहसवान् और सत्यप्रिय पुरुष का शायद बहुत कम लोग नाम जानते, यदि बाबू योगेशचंद्र राय, एम्० ए०, की भेंट उनसे एकाएक न हो जाती। राय बाबू कटक-कॉलेज में पदार्थ-विज्ञान के अध्यापक हैं।

कोई आठ वर्ष हुए, राय महाशय को कटक में चंद्रशेखरजी एक दिन अनायास मिल गए। परस्पर ज्योतिष-विषयक बातें हुईं। दो-ही-चार बातों के बाद अपनी विद्वत्ता से चंद्रशेखरजी ने राय बाबू को चकित कर दिया। बहुत दिन परिश्रम करके चंद्रशेखरजी ने सिद्धांतदर्पण-नामक एक ग्रंथ संस्कृत में लिखा है। उसे राय महाशय ने देखा। उसे देखकर वह इतने प्रसन्न हुए कि उसके

प्रकाशित करने का तत्काल उन्होंने विचार किया। वह ताड़ के पत्तों पर, उड़िया-अक्षरों में, था। १८९९ ईसवी में, उनकी कृपा से, यह ग्रंथ उन्हीं के द्वारा संपादित और अँगरेज़ी में एक लंबी भूमिका से विभूषित होकर, प्रकाशित हो गया। उसके द्वारा चंद्रशेखरजी की कीर्ति भी दिगंत तक गमन कर गई। चंद्रशेखर-जी की योग्यता, पांडित्य और आविष्कारिणी शक्ति से प्रसन्न होकर गवर्नमेंट ने उनको महामहोपाध्याय भी बना दिया। यह सम्मान प्रायः ब्राह्मण विद्वानों को ही मिलता आया है। परंतु क्षत्रिय होकर भी सामंत चंद्रशेखर ने इसे प्राप्त किया।

चंद्रशेखरजी का इस समय इतना सम्मान है कि आप ही के सिद्धांत के अनुसार बने हुए पंचांग से पुरी के प्रसिद्ध मंदिर में पूजन इत्यादि के मुहूर्त देखे जाते हैं। कुछ काल हुआ, वहाँ पर पंडितों की एक सभा हुई थी। उस सभा ने आप ही के सिद्धांतों के अनुसार पंचांग बनाना निर्भ्रांत माना। तब से चंद्रशेखरजी का एक शिष्य संस्कृत में और दूसरा बँगला में पंचांग बनाता है। उनका इस प्रांत में खूब प्रचार है।

उड़ीसा-प्रदेश में, कटक से ६० मील पश्चिम, पहाड़ियों और जंगलों के बीच खंडपारा-नामक एक गाँव है। खंडपारा के राजा की वह राजधानी है। वहाँ के राजा उड़ीसा के करद राजों में से एक छोटे-से राजा हैं। चंद्रशेखरजी उसी राज-वंश के अंकुर हैं। खंडपारा उनकी जन्म-भूमि है। वहाँ के वर्तमान राजा, नटवर मर्दराज, चंद्रशेखर के भतीजे हैं। आगे की संबंध-शाखा देखिए—

नृसिंह

- पुरुषोत्तम
  - कृष्णचंद्र
    - नटवर
- श्यामबंधुसिंह
  - चंद्रशेखर

चंद्रशेखर का जन्म १८३५ ईसवी में हुआ । उनका पूरा नाम चंद्रशेखरसिंह सामंत हरिचंदन महापात्र है। हरिचंदन और महापात्र ख़िताब हैं, जो पुरी के राजा ने खंडपारा के राज-वंश को किसी समय दिए थे। वही अब तक चले आते हैं । पुरी के राजा की प्रभुता को खंडपारावाले अब तक मानते हैं । "सामंत" क्षत्रियोचित पदवी है। चंद्रशेखरजी ने बहुत छोटी उम्र से संस्कृत का अभ्यास आरंभ किया। कुछ समय तक उन्होंने व्याकरण, धर्मशास्त्र, पुराण, तर्क और वैद्यक सीखा ; और संस्कृत में जितने प्रसिद्ध-प्रसिद्ध काव्य हैं, उनको भी पढ़ा । जब वह दस वर्ष के थे तभी उनके चचा ने कुछ ज्योतिष (फलित) उनको सिखलाया था। लड़कों को तारा देखने का शौक़ होता है । इसलिये फलित ज्योतिष पढ़ाते समय, चंद्रशेखर के चचा ने आकाश में दो-चार तारकाओं से भी उनका परिचय करा दिया था। इस तरह, इतनी छोटी उम्र में, चंद्रशेखरजी के ज्योतिष पढ़ने का सूत्रपात हुआ। जन्मपत्र बनाने में ग्रहों और नक्षत्रों की गति और स्थान आदि का ज्ञान आवश्यक होता है । पुस्तकों में इस विषय के जो नियम थे उनकी प्रत्यक्ष जाँच करने की इच्छा उनके मन में उदित हुई। अतएव आकाश में उनके स्थान इत्यादि की जाँच वह स्वयं करने लगे। धीरे-धीरे नक्षत्रों की आलोचना करना उनका स्वभाव हो गया। इसका फल यह हुआ कि चंद्रशेखरजी का अनुराग ज्योतिष-विद्या की ओर सहज ही आकृष्ट हो गया । अब यह कठिनाई आ पड़ी कि उनको इस विद्या में विशेष सहायता कौन दे । उनके चचा में तो इतनी योग्यता थी नहीं । जब उनको इस विषय का अच्छा गुरु कोई न मिला तब उन्होंने स्वयं ही अपने परिमित ज्ञान की वृद्धि करने पर कमर कसी । उनके कुटुंब-पुस्तकालय में संस्कृत के कुछ सिद्धांत-ग्रंथ थे । टीकाओं के सहारे वह उनको

पढ़ने और साथ ही ग्रहों, नक्षत्रों और राशियों का प्रत्यक्षीकरण करने लगे।

१५ वर्ष की उम्र में चंद्रशेखरजी लग्न का अर्थ समझने और तद्विषयक गणित करने लगे; परंतु उनको यह देखकर आश्चर्य हुआ कि न तो नक्षत्र ठीक समय पर क्षितिज के ऊपर उदय होते हैं और न ग्रह ही अपनी ठीक जगह पर देख पड़ते हैं। बार-बार उन्होंने अपनी शलाका से ग्रहों के पारस्परिक अंतर को नापा और बार-बार उनको हताश होना पड़ा। लिखी और देखी हुई बातों का मिलान न मिला। क्या सिद्धांत में भ्रम था अथवा उनके गणित में कहीं ग़लती थी? यह ख़याल उनके मन में आया। इसलिये उन्होंने वे यंत्र बनाए जिनका वर्णन सिद्धांतों में है। ये यंत्र आजकल के यंत्रों के सामने कोई चीज़ ही नहीं; परंतु योरप के बने हुए यंत्रों का पाना चंद्रशेखरजी के लिये असंभव था। नीला आकाश उनकी वेधशाला थी। एक खगोल, एक दृक्चक्र, एक जलघड़ी, एक शंकु और एक आप-ही-आप फिरनेवाला जल और पारे से भरा हुआ स्वयंवह यंत्र—बस, यही उनके यंत्र थे। तमाशे के लिये वह अधिक उपयोगी थे, काम के लिये कम। आपने एक नया ही यंत्र बना डाला और उसका नाम रक्खा मानयंत्र। परंतु उसमें इतना सूक्ष्म मान करने की शक्ति नहीं थी कि वह एक अंश की ठीक-ठीक माप बतला सके। तथापि उसमें उन्हें इतना अभ्यास है कि उससे उन्हें काम लेते देख आश्चर्य होता है।

राय बाबू ने पहले-पहल जब चंद्रशेखर को देखा तब उनकी बातों पर बाबू साहब को विश्वास न आया। इसलिये उन्होंने ज्योतिषीजी की ज्योतिष-विद्या की परीक्षा लेनी चाही। एक रात को आकाश में पश्चिम तरफ़ उन्होंने मंगल और शुक्र को देखा। उस समय उनका परस्पर अंतर कोई ६ अंश होगा। आपने

ज्योतिषीजी से कहा कि कृपा करके इन दोनों का ठीक अंतर यदि आप अपने किसी यंत्र के सहारे बतला सकते हों तो बतलाइए। ज्योतिषीजी ने एक लकड़ी, कोई तीन फुट लंबी, उठा ली और उसके सिरे पर चार इंच लंबी एक और लकड़ी, दाहने-बाएँ, लगा दी। त्रिकोणमिति-संबंधी गणित जो कुछ आवश्यक था वह आपने अपने मन ही में कर लिया। कोई १० मिनट में आपका मान-दंड तैयार हो गया। उससे आपने उन दोनों ग्रहों के अंतर को मापकर राय बाबू को आश्चर्य-मग्न कर दिया। इसी अवसर पर आपने पहले-पहल दूरबीन देखी। आपने उससे एक-आध नक्षत्र देखने की इच्छा प्रकट की। राय बाबू ने चंद्रमा को उसके भीतर से उन्हें दिखाया। उस समय चंद्रशेखरजी को जो आनंद हुआ वह वर्णन से बाहर है। उनको खेद भी इसलिये हुआ कि ऐसे यंत्रों से वह लाभ न उठा सके। जिस समय आप चंद्रबिंब को देख रहे थे आपने दूरबीन की शक्ति जाननी चाही। राय बाबू ने कहा, इसका हिसाब आप खुद कर लीजिए। और आपने कर दिखाया। राय बाबू को कभी उम्मेद न थी कि वह उसका उत्तर दे सकेंगे। उन्होंने दूरबीन के भीतर से देखते समय बढ़े हुए चंद्रबिंब को नापा और फिर साधारण तौर पर आँख से दिखाई पड़ने-वाले चंद्रबिंब के व्यास से मिलाकर कह दिया कि दूरबीन में लगभग सौगुना बड़ा आकार दिखाने की शक्ति है। इस उत्तर को सुनकर अध्यापक राय को अचंभा हुआ और वह चंद्रशेखरजी की योग्यता की बार-बार प्रशंसा करने लगे। उस समय उस दूरबीन में ८०गुना दिखाने की शक्ति थी और चंद्रशेखरजी का उत्तर बहुत कुछ सही था।

चंद्रशेखरजी ज्योतिष-विद्या-विषयक सिद्धांतों की जाँच किए बिना उनकी सत्यता पर कभी विश्वास नहीं करते। उनसे एक बार कहा गया कि सूर्य में दाग़ हैं; परंतु उन्होंने न माना। जब

उनको वे दूरबीन से दिखाए गए तब उन्होंने इस बात को स्वीकार कर लिया। आपकी सत्यासत्य-विषयक आस्था की परीक्षा करने के लिये राय बाबू ने आपसे पूछा कि सूर्य के दाग़ों का अस्तित्व तो आप बिना देखे नहीं मानते ; पर सिद्धांतों में लिखे हुए सात वायु-मंडल आप मानते हैं या नहीं। इस पर आपने कहा कि ऐसी उक्ति को जिस नज़र से देखना चाहिए हम उसी नज़र से देखते हैं।

बहुत वर्षों तक चंद्रशेखरजी ग्रहों की जाँच बराबर करते रहे। रात-रात-भर वह आकाश ही की ओर देखते रहे। सैकड़ों अटकाव और आफ़तें उन पर आईं ; परंतु उन्होंने अपने इस प्यारे विषय का पीछा न छोड़ा। सिद्धांतों में कही हुई बातों की सत्यता की जाँच करने के लिये उन्होंने हज़ारों परीक्षाएँ कीं। सूर्य और चंद्रमा का ग्रहण उनके जीवन में एक ऐसी घटना थी जो कभी विस्मृत नहीं हो सकती। लोग उनको राज-ज्योतिषी कहने लगे। परंतु उनका यह व्यवसाय राजा साहब को पसंद न आया। यदि किसी ग्रह या नक्षत्र ने अपनी कक्षा में भ्रमण किया तो उसके जानने से लाभ क्या? और न उसने भ्रमण किया तो हानि क्या? इन बातों के जानने के लिये सैकड़ों ऐसे ज्योतिषी पड़े हैं जिनका यही व्यवसाय है। चंद्रशेखर को ये बातें जानने की क्या ज़रूरत? राजा साहब ने इस प्रकार अपने मन में कहकर चंद्रशेखरजी पर अपनी कृपा कम कर दी ; पर यह कमी चंद्रशेखर के ज्यौतिषिक अनुराग में कमी उत्पन्न नहीं कर सकी।

२३ वर्ष की उम्र में चंद्रशेखर ने अपनी परीक्षाओं के जाँच का फल लिखना आरंभ किया। उसके तीन वर्ष पीछे उन्होंने इन परीक्षाओं के आधार पर एक ग्रंथ लिखने का विचार किया। तब तक संस्कृत का ज्ञान भी उनको विशेष हो गया था ; काव्य-शक्ति भी उनको प्राप्त हो गई थी ; छंदोरचना भी वह करने लगे थे।

उन्होंने सिद्धांतदर्पण का आरंभ कर दिया। ६ वर्ष में वह समाप्ति को पहुँचा। ३० वर्ष की उम्र में सिद्धांतदर्पण तैयार हुआ।

इस दर्मियान में उनको बेहद परिश्रम पड़ा। इससे उनकी शरीर-संपत्ति को धक्का पहुँचा। उनको अग्निमांद्य हो गया। उदर-व्याधि से भी वह तंग रहने लगे। अब भी कभी-कभी शूल-रोग उनको यहाँ तक सताता है कि वह दिन-दिन-भर पृथ्वी पर बेचैन पड़े रहते हैं। आज ३० वर्ष से उन्होंने पेट-भर नहीं खाया। दो बार आधे पेट भी वह नहीं खाते। इस पर भी उनकी ज्योतिष-विद्या की अभि-रुचि कम नहीं हुई। जब वह महामहोपाध्याय होने के लिये कटक गए तब लोगों ने उनको दो-चार दिन वहाँ रखना चाहा। परंतु आप वहाँ नहीं रहे। सूर्य-ग्रहण होनेवाला था। फिर भला वह अपनी वेधशाला को ऐसे क़ीमती वक़्त पर कैसे छोड़ सकते थे?

चंद्रशेखरजी का स्वभाव बहुत ही सीधा-सादा है। वह पूरे भोला-नाथ हैं; इतने कि उनके सांसारिक काम उनके सेवकों ही पर अवलंबित रहते हैं। वे ही जो कुछ चाहते हैं करते हैं। राजवंश से संबंध रखने के कारण उनके यहाँ सेवकों की भीड़ रहती है। परंतु सालाना आमदनी आपकी सिर्फ़ ८००) रु० के लगभग है। इसी से वह किसी तरह अपना निर्वाह करते हैं। वह ऋणी भी हैं। ऐसी दुरवस्था और निर्धनता में बड़े-बड़े धैर्यधारी पुरुषों का धैर्य ठिकाने नहीं रहता। परंतु इन आपदाओं को झेलते हुए ही चंद्रशेखरजी ने नाना प्रकार की परीक्षाएँ की हैं और सिद्धांतदर्पण भी बना डाला है।

सिद्धांतदर्पण में भिन्न-भिन्न वृत्तों के २५०० श्लोक हैं। उनमें से २२८४ श्लोक स्वयं चंद्रशेखर की रचना हैं। शेष २१६ श्लोक उन्होंने दूसरे सिद्धांतों से उद्धृत किए हैं। उन्हें विशेष करके आपने सिद्धांतशिरोमणि और सूर्यसिद्धांत से उद्धृत किए हैं। भास्कर को

उन्होंने अपना आदर्श माना है । अपने ग्रंथ के आरंभ में आप अपनी शालीनता इस प्रकार प्रदर्शित करते हैं—

"श्रीभास्करप्रभृतिखेचरचक्रबालं
नत्वा गुरुं स्वपितरौ तदनुग्रहाढ्यः ;
मूढोऽप्यगाढगणक प्रतिपत्तयेऽहं
सिद्धान्तदर्पण इति प्रथयामि शास्त्रम् ।"

१८१४ शक में आपने इस पुस्तक को समाप्त किया । अंत में आपने पुनर्वार शालीनता दिखलाई है । सिद्धांतदर्पण में २४ प्रकाश किंवा भाग हैं । प्रत्येक भाग के अंत में एक श्लोक है जिसके तीन चरण सब कहीं एक ही-से हैं । पर चौथा चरण नया है ; उसमें प्रत्येक भाग का विषय-वर्णन किया गया है । चौबीसवें प्रकाश का अंतिम श्लोक सुनिए—

"इत्युत्कलोज्ज्वलनृपालकुलप्रसूत-
श्रीचंद्रशेखरकृतौ गणितेऽक्षिसिद्धे ;
सिद्धान्तदर्पण उपाहितबालबोधे
सानुक्रमो व्यरचि सिद्धमितः प्रकाशः ।"

इसमें "अक्षिसिद्धे" पद ध्यान देने योग्य है । तेईसवें प्रकाश में आपने "पुरुषोत्तम-स्तुति" लिखी है । उसकी कविता बड़ी ही सरस और मनोहारिणी है ।

चंद्रशेखर के ज्यौतिषिक सिद्धांतों का अँगरेज़-ज्योतिषियों के सिद्धांतों से मिलान करने पर खूब मेल मिलता है । कहीं-कहीं वे ठीक मिल जाते हैं और कहीं-कहीं अत्यंत अंतर पाया जाता है । सूर्यसिद्धांत और सिद्धांतशिरोमणि से बहुधा इनका सिद्धांत नहीं मिलता । उदाहरण के लिये शुक्र की नाक्षत्रिक गति अँगरेज़ी मत से २२,४७,००७ दिन है, और चंद्रशेखरजी के मत से २२,४७,०२३ । पर सूर्यसिद्धांत के अनुसार वह २२,४६,९८९ है और सिद्धांत-

शिरोमणि के अनुसार २२,४६,६७६। चंद्रमा के संबंध में इन्होंने कई ऐसी बातें जानी हैं जो भास्कराचार्य तक के ध्यान में नहीं आईं। ऐसे आविष्कार चंद्रशेखरजी के अगाध पांडित्य की गवाही दे रहे हैं।

चंद्रशेखर के सिद्धांतों में एक यह दोष है कि वह पृथ्वी को अचल मानते हैं। यह दोष छोटा नहीं; बहुत बड़ा दोष है। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने जो प्रमाण इस विषय के दिए हैं वे बड़े ही कौतूहल-जनक हैं। इस संबंध में वह अभी जाँच कर रहे हैं। आशा है, शीघ्र ही इस मत को बदलकर आप पृथ्वी का घूमना स्वीकार कर लेंगे।

[जून १९०८

कविवर नवीनचंद्र सेन, बी० ए०

वंग-कवि-कुल-कोकिल बाबू नवीनचंद्र सेन, बी० ए०, वंग-भाषा के प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने सब मिलाकर कोई दस-बारह उत्तमोत्तम काव्य-ग्रंथों की रचना की है। उनकी कविता बड़ी ही मधुर, मनोहारिणी, सरस और उच्च-भाव-पूर्ण होती थी। वंग-देश में उसका बड़ा आदर है। कहते हैं कि बंगाल में जितने महाकवि हुए हैं, नवीनचंद्र की गिनती उन्हीं में थी। शोक की बात है कि गत २३ जनवरी, १९०९ ईसवी को, बासठ वर्ष की उम्र में, उनका देहांत हो गया।

पूर्व पुरुष और जन्म

बाबू नवीनचंद्र वैद्य-जाति के थे। उनकी जाति-गत उपाधि सेन और नवाब-दत्त उपाधि राय थी। उनके पूर्वज राढ़-देश के निवासी थे। महाराष्ट्र-विप्लव के समय अपना देश छोड़कर वह चटगाँव-ज़िले के नयापाड़ा-गाँव में आ बसे थे। बाबू नवीनचंद्र का जन्म, १८४६ ईसवी में, इसी ग्राम में, हुआ था। उनके पिता का नाम गोपीमोहन राय था और माता का राजराजेश्वरी। बाबू गोपीमोहन राय चटगाँव के जज की अदालत में पेशकार थे। कुछ दिनों बाद, नौकरी छोड़कर, वह वकालत करने लगे थे। मरने के कुछ वर्ष पहले वह मुंसिफ़ हो गए थे। वह बड़े ही लोकप्रिय, धर्मनिष्ठ, दयालु और दानी थे। इसी से अक्सर ऋण-ग्रस्त रहते थे। कविता रचने और गाने-बजाने का भी उन्हें बड़ा शौक़ था। नवीनचंद्र के जन्म के तीसरे दिन उत्सव की तैयारी हो ही रही



श्रीयुत नवीनचंद्र सेन बी० ए०

थी कि घर में आग लग गई। फल यह हुआ कि केवल उन्हीं का घर नहीं, किंतु सारा गाँव भस्मीभूत हो गया। यह देखकर कि नवीनचंद्र की बदौलत प्राचीन गाँव नष्ट होकर नवीन हो गया है, उनके कुल-गुरु की पत्नी ने उनका नाम नवीनचंद्र रक्खा।

बाल्य-काल और शिक्षा

बालक नवीनचंद्र यथासमय गाँव की पाठशाला में पढ़ने के लिये बिठाए गए। वहाँ उन्होंने आठ वर्ष की उम्र तक पढ़ा। आठवें वर्ष पाठशाला की पढ़ाई समाप्त करके स्कूल में पढ़ने के लिये, अपने पितृव्य मदनमोहन राय के साथ, वह चटगाँव गए और वहाँ के सरकारी स्कूल में भर्ती हुए। दस वर्ष की उम्र में उनके पितृव्य का देहांत हो गया। इससे उनके दिल पर कड़ी चोट लगी। कारण यह था कि मदनमोहन बाबू अपने भतीजे नवीनचंद्र को बहुत चाहते थे। इसी समय गृहदाह, मुक़द्दमेबाज़ी आदि अनेक दुर्घटनाएँ उनके परिवार में हुईं। वह भी कुछ दिनों के लिये बीमार हो गए।

चटगाँव के स्कूल में नवीनचंद्र की गिनती नटखट लड़कों में थी। उनके कारण सहपाठी लड़कों की नाक में दम रहता था। लड़के क्या, कभी-कभी शिक्षक महाशय तक उनकी व्यंग्योक्तियों का निशाना बन जाते थे। शाम-सबेरे नदी-किनारे और निर्जन स्थानों में घूमना और प्रकृति की मनोहारिणी शोभा देखना उन्हें इसी समय से अत्यंत प्रिय था।

नवीनचंद्र ने चटगाँव के स्कूल से प्रवेशिका-परीक्षा पास की। परीक्षा में वह प्रथम आए। उन्हें छात्र-वृत्ति भी मिली। उसके बाद कॉलेज में पढ़ने के लिये वह कलकत्ते आए और प्रेसीडेंसी-कॉलेज में भर्ती हो गए। कलकत्ते आने के दूसरे वर्ष नवीनचंद्र का विवाह हुआ। विवाह के बाद ही उन्होंने एफ़० ए०-परीक्षा

पास का। परंतु इस बार वह छात्र-वृत्ति न पा सके। इससे उन्होंने प्रेसीडेंसी-कॉलेज छोड़ दिया और जेनरल एसेंब्लीज़ कॉलेज में प्रविष्ट होकर बी० ए० में पढ़ने लगे। इस समय अपने व्यय के लिये पिता को कष्ट देना उचित न समझकर वह दो-एक लड़के पढ़ाने और उसी से अपना ख़र्च चलाने लगे। जिस समय बी० ए०-परीक्षा के सिर्फ़ तीन महीने बाक़ी थे, उनके पूजनीय पिता का देहांत हो गया। इससे वह अत्यंत शोकाकुल हुए। उन्हें चारों ओर अंधकार-ही-अंधकार दिखाई देने लगा। यह बहुत सच है कि विपद् अकेली नहीं आती। इसी समय महाजनों ने तड़ातड़ी मचाना और नालिश-पर-नालिश करना शुरू किया। परंतु नवीनचंद्र बड़ी ही दृढ़ प्रकृति के मनुष्य थे। वह ज़रा भी विचलित न हुए। माता और स्त्री का सब गहना बेचकर उन्होंने सारा ऋण चुका दिया और फिर पूर्ववत् पढ़ने लगे। १८६८ ईसवी में उन्होंने बी० ए० पास किया।

सरकारी सेवा

इसी समय बाबू नवीनचंद्र का परिचय स्वर्गीय विद्यासागर महाशय से हुआ। ज्यों ही विद्यासागर महाशय को मालूम हुआ कि नवीनचंद्र की दशा इस समय बड़ी ख़राब है त्यों ही उन्होंने उसको दूर करने की चेष्टा की। फल यह हुआ कि बी० ए० पास करने के कुछ ही महीनों बाद बाबू नवीनचंद्र डेपुटी मैजिस्ट्रेट हो गए। इस पद पर आप कोई बाईस वर्ष तक अधिष्ठित रहकर अपना कर्तव्य योग्यता-पूर्वक निर्वाह करते रहे। १९०० ईसवी में पेंशन लेकर आप इस पद से अलग हुए। तब से लेकर मृत्यु के समय तक आप अपना सारा समय साहित्य-सेवा और भगवद्भक्ति में ही बिताते रहे।

काव्य-रचना

बाबू नवीनचंद्र जब कॉलेज में पढ़ते थे तभी से कविता रचने लगे थे। कविता की रचना-प्रणाली की शिक्षा उन्होंने अपने शिक्षक,

पंडित जगदीशचंद्र तर्कालंकार, से पाई थी। एक दिन उनकी एक कविता पंडित शिवनाथ शास्त्री की नज़र से गुज़री। उसे देखकर वह बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने वह कविता एजुकेशन-गज़ट के संपादक, बाबू प्यारीचरण सरकार, को दिखलाई। सरकार महाशय दूसरे ही दिन नवीनचंद्र के क्लास में पहुँचे और उनकी खूब प्रशंसा करके बोले कि तुम एजुकेशन-गज़ट के लिये सदा कविता लिखा करो। नवीनचंद्र की कविता पहले-पहल एजुकेशन-गज़ट ही में प्रकाशित हुई। उनकी पहली ही कविता देखकर लोगों को मालूम हो गया कि वंग-देश के काव्याकाश में एक नवीन चंद्र का उदय हुआ है। फिर क्या था, उनकी असाधारण प्रतिभा और कवित्व-शक्ति की ख्याति शुक्ल-पक्ष के चंद्रमा की तरह दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगी। तब से मृत्यु के समय तक उन्होंने फुटकर कविताओं के सिवा अनेक महाकाव्य, खंड-काव्य, काव्य और चंपू ग्रंथों की रचना की। उनमें से ये ग्रंथ मुख्य हैं—

(१) अवकाशरंजिनी (दो भाग)
(२) पलाशीर युद्ध
(३) रंगमती
(४) रैवतक
(५) कुरुक्षेत्र
(६) प्रभास
(७) अमिताभ
(८) गीता
(९) चंडी
(१०) खृष्ट
(११) भानुमती
(१२) प्रवास-पत्र

कवित्व

बाबू नवीनचंद्र सेन बड़े प्रतिभाशाली कवि थे। उन्होंने अपने महाकाव्यों में निष्काम धर्म, त्याग-धर्म, भगवद्भक्ति और विश्व-प्रेम के उच्च आदर्श का जैसा मनोहर चित्र खींचा है और सरस तथा मधुर भाषा में जिस सौंदर्य और चरित्र की सृष्टि की है वह वंग-भाषा के साहित्य में चिरकाल तक अमर रहेगी और पुण्यप्रभ ध्रुव-तारा के समान बंगालियों को प्रकृत पथ दिखलाती रहेगी। क्या भाव, क्या भाषा, क्या रसावतारणा, सभी बातों में नवीनचंद्र कविजन-वांछित गुणों के अधिकारी थे।

ऊपर जिन पुस्तकों के नाम लिखे गए हैं उनमें सबसे पहले अवकाशरंजिनी-नामक गीति-काव्य, १८७३ ईसवी में, प्रकाशित हुआ था। उसमें ग्रंथकर्ता का नाम न था। अर्थात् यह पुस्तक बेनाम ही छपी थी। परलोक-वासी बंकिम बाबू द्वारा संपादित वंगदर्शन नाम के मासिक पत्र में इसकी बड़ी अच्छी समालोचना हुई। इससे बाबू नवीनचंद्र का नाम सर्व-साधारण में ख्यात हो गया। अवकाशरंजिनी नवीन बाबू का एक-मात्र गीति-काव्य है। इसके सिवा उन्होंने और कोई गीति-काव्य नहीं रचा। वंग-देश के प्रायः सभी बड़े-बड़े कवियों ने गीति-काव्य बनाए हैं। पर उनके काव्य नवीन बाबू के गीति-काव्य की बराबरी नहीं कर सकते।

इसके दूसरे साल "पलाशीर युद्ध"-नामक महाकाव्य प्रकाशित हुआ। इसने नवीन बाबू को वंग-साहित्य के एक बहुत ऊँचे आसन पर बिठा दिया। इसकी भाषा बहुत ही सुस्पष्ट और ओजस्विनी हुई। बंकिमचंद्र ने तो इसे अग्नि-तुल्य ज्वालामयी कहा। वास्तव में वह है भी अत्यंत तीव्र और उग्र। ऐसी सबल भाषा और वर्णनाभंगी हेमचंद्र के सिवा अन्य किसी वंग-कवि

के काव्य में मिलना मुशकिल बात है। बाबू नवीनचंद्र ने युद्धस्थल का जैसा अद्भुत चित्र खींचा है वैसा किसी बंगाली कवि से नहीं बन पड़ा। परंतु सबसे बड़ी बात यह है कि कवि ने वीर और करुण-रस का एकत्र समावेश करने में अपनी असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया है। ऐसा जान पड़ता है, मानो कवि ने आग्नेय गिरि के अग्नि-स्राव के साथ करुणा-मंदाकिनी की पवित्र धारा बहाई है।

इसके बाद बाबू नवीनचंद्र ने रंगमती-नामक काव्य की रचना की। परंतु इस काव्य को देखने से मालूम होता है कि कवि की प्रवृत्ति बदलने लगी है। इसकी भाषा में वह ज़ोर नहीं है। "पलाशीर युद्ध" की रचना के समय कवि का जो उद्देश था वह अब पूर्ण रूप से बदल गया था। इस रुचि-परिवर्तन के अनेक लोग अनेक कारण बतलाते हैं। किसी-किसी का कथन है कि पलासी के मैदान में जिस विश्वासघातकता और गृह-विवाद ने भारत के इतिहास को कलंकित किया था उसे कवि ने प्राचीन भारत के रण-क्षेत्रों में भी विद्यमान पाया। इसके बाद कवि ने सोचा कि प्राचीन काल में क्या कोई ऐसा भी महापुरुष हुआ है जिसने इस "क्षतच्छिन्न विक्षिप्त भारत" में एक महाधर्म-साम्राज्य स्थापित करने की कोशिश की हो? इस समय उसे भगवान् कृष्णचंद्र के सिवा और कोई न देख पड़ा। बस, इसीलिये कवि ने उनकी सौम्य मूर्ति को सम्मुख रखकर अपने परवर्ती काव्यों की रचना की। रैवतक, प्रभास, कुरुक्षेत्र आदि काव्य इसी श्रेणी के हैं।

बाबू नवीनचंद्र अपने अपूर्व प्रतिभा-बल से भारत के भविष्य इतिहास का आभास दे गए हैं। किस रास्ते, किस तरह चलने से भारत की पूर्व ज्ञानगरिमा, पूर्व ऐश्वर्य, पूर्व ऋद्धि-सिद्धि लौट आ-वेगी—कवि ने अपने चित्रित कृष्ण-चरित में इसीका इशारा किया है।

उपसंहार

उदयास्त जगत् का नियम है। इसी नियम के अनुसार वंग-देश के आकाश में सुधांशु के समान उदित होकर नवीनचंद्र ने अपने काव्य-रूपी प्रकाश से वंग-देश को प्रकाशित किया था। इसी नियम के अनुसार वह अस्त हो गए हैं। वह अस्त हो गए तो हो जायँ; परंतु उनकी कवि-कीर्ति उनको अमर रक्खेगी। जब तक बंगाल में वंग-भाषा का प्रचार रहेगा, जब तक संसार में बंगाली-जाति विद्यमान रहेगी, तब तक लोग अपने मनोमंदिर में उनकी पूजा करेंगे। नवीनचंद्र का नाम बंगाली कभी न भूलेंगे।

ईश्वर से प्रार्थना है कि ऐसा एकआध महाकवि न सही तो अच्छा कवि ही इन प्रांतों में भी पैदा करे जहाँ की मुख्य भाषा हमारी दीना, हीना और क्षीण-कलेवरा हिंदी है। ईश्वर से प्रार्थना करने का कारण यह है कि मनुष्यों से प्रार्थना करना अरण्य-रोदन करना है। वे तो अपनी मातृभाषा की सेवा करना, उसमें वार्तालाप करना और उसे लिखना एक प्रकार अपनी बेइज़्ज़ती समझते हैं!

[एप्रिल १९०९



श्रीविजयधर्म सूरि

शास्त्रविशारद, जैनाचार्य श्रीविजयधर्म सूरि

काठियावाड़ में माहुवा-नामक एक गाँव है। वहीं बिशाश्री-माली-जातीय वैश्य के घर, संवत् १९२४ में, जैन-गुरु श्रीविजय-धर्मजी का जन्म हुआ। उनके पिता का नाम सेठ रामचंद्र और माता का नाम कमलादेवी था। दीक्षा ग्रहण करने के पहले उनका नाम मूलचंद था। सात वर्ष की उम्र में वह पाठशाला में भरती किए गए; किंतु वहाँ उन्होंने कुछ भी न सीखा। उनके पिता ने जब देखा कि वह लिखने-पढ़ने में मन नहीं लगाते तब वह उन्हें अपने घर का काम-काज सिखाने लगे। कुछ दिन बाद उनके हृदय में विद्याभिरुचि का अंकुर उग आया। अतएव काम से छुट्टी मिलने पर वह परिश्रम-पूर्वक गुजराती-भाषा सीखने लगे। उनके पिता ने थोड़ी ही उम्र में उन्हें अपने व्यवसाय में निपुण कर दिया। परंतु पंद्रहवें वर्ष में संगति-दोष से उन्हें सट्टा और जुवा खेलने की बुरी आदत पड़ गई। बीसवें वर्ष में एकाएक उनका स्वभाव बदला। वह सोचने लगे कि इस तुच्छ सांसारिक सुख के लिये जितना परि-श्रम करता हूँ—जितना समय नष्ट करता हूँ—उसका शतांश भी यदि आध्यात्मिक उन्नति में लगाऊँ तो बहुत उपकार हो। यह ख़याल आते ही उनका मन सांसारिक माया-जाल से हट गया। उन्होंने शीघ्र ही गृह-त्याग करके सद्‌गुरु की खोज में घूमना शुरू किया। सौभाग्यवश उन्हें एक सद्‌गुरु मिल भी गए। अपने शुभ गुणों के कारण वह शीघ्र ही गुरु के कृपापात्र बन गए। उनके गुरु ने उन्हें जैन-साधु होने के लिये माता-पिता की आज्ञा लेने को घर

भेजा। उनकी पुत्रवत्सला माता तो अपने पुत्र का साधु हो जाना पसंद नहीं करती थीं; किंतु दूरदर्शी पिता ने देखा कि पुत्र का मन संसार से एकदम विरक्त हो गया है। इससे, यदि मैं रोकूँगा भी तो वह न मानेगा। अतएव उन्होंने प्रसन्नता-पूर्वक उन्हें साधु होने की आज्ञा दे दी। अब मूलचंद के दीक्षा-ग्रहण करने के मार्ग में कोई रुकावट न रही। उन्होंने ज्येष्ठ-कृष्णा पंचमी, संवत् १९४३ को, भावनगर के विख्यात महात्मा शांतिमूर्ति श्रीवृद्धिचंद्रजी महाराज से दीक्षा ग्रहण की। तब से उनका नाम हुआ "धर्मविजय"।

जैन-मत में साधुओं के जीवन का प्रधान उद्देश आत्मोन्नति और जगत् का उपकार करना है। जैनी साधु धर्म की शिक्षा देकर संसार का उपकार करते हैं। धर्मोपदेश के लिये विशेष शास्त्र-ज्ञान के विना सर्व-साधारण पर उपदेश का अच्छा असर नहीं पड़ता। इस कारण धर्मविजय भी दीक्षा-ग्रहण करने के बाद, गुरु-सेवा में तत्पर रहकर, उनसे धर्म-शिक्षा ग्रहण करने लगे। वह गुरु-सेवा में अधिक मन लगाते थे। पर उस समय उन्हें संस्कृत-भाषा का ज्ञान न था। इससे उनकी धर्म-शिक्षा शीघ्र संपन्न न हुई। केवल प्रतिक्रमण * अर्थात् पंचसंध्या सीखने में उन्हें डेढ़ वर्ष लग गया। इस कारण उनके गुरुभाई और दूसरे साधु उनकी हँसी किया करते थे। परंतु वह कभी हतोत्साह न हुए; बराबर धीरे-धीरे आगे बढ़ते ही गए।

उनकी गुरु-भक्ति और धर्म-निष्ठा देखकर उनके गुरु ने अपने

---

* जैनी लोग संध्या-वंदना को प्रतिक्रमण कहते हैं। अपने किए हुए पापादि के निवारणार्थ जैन पाँच प्रतिक्रमण करते हैं:—प्रातःसंध्या, सायंसंध्या, पाक्षिक संध्या, चातुर्मासिक संध्या और वार्षिक संध्या।

अंतिम समय में उन्हें "पंन्यास" उपाधि देने के लिये अपने शिष्यों को आदेश दिया। संवत् १९४९ की वैशाख-शुक्ला सप्तमी को उनके गुरु का शरीर-पात हुआ। उसी समय उन्हें उक्त उपाधि मिली। उसके बाद उन्होंने भावनगर परित्याग किया। संवत् १९४९ का चातुर्मास्य उन्होंने लीमड़ी-नगर में बिताया। इस तरह गुजरात के अनेक नगरों में घूम-घूमकर और लोगों को धर्मोपदेश देकर उन्होंने कृतार्थ किया। इस कार्य से जैनियों के सिवा अन्यान्य संप्रदायवालों का भी बहुत उपकार हुआ। इस समय उनका विद्यानुराग भी बहुत प्रबल हो उठा। लड़कपन में नियमित रूप से संचालित न होने के कारण उनकी बुद्धि मंद पड़ गई थी। तथापि अपार परिश्रम करके उन्होंने संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। उन्होंने धर्म और दर्शन-शास्त्र का भी उत्तम ज्ञान प्राप्त कर लिया।

लुप्तप्राय जैन-गौरव का पुनरुद्धार करना धर्मविजयजी के जीवन का प्रधान उद्देश है। इस उद्देश की सिद्धि के निमित्त उन्होंने अब तक अनेक कार्य किए हैं। संवत् १९५२ में उन्होंने जैन-संप्रदाय के अनेक विवादों को मिटाकर बड़े कष्ट से राणकपुर में जैन-श्वेतांबर-मंदिर की प्रतिष्ठा की। संवत् १९५३ में उन्होंने उपलियारा-तीर्थ का उद्धार किया। यह तीर्थ काठियावाड़ में देउला-गाँव से बारह कोस पर है। वहाँ फाल्गुन-शुक्लाष्टमी को बहुत बड़ा मेला होता है।

संवत् १९५७ में, श्रावणी पूर्णिमा के दिन, उन्होंने वीरमगाँव के जैनियों को उत्साहित करके वहाँ पर एक बड़ा पुस्तकालय स्थापित कराया। उसका नाम "धर्मविजय-पुस्तकालय" पड़ा। इसके सिवा उन्होंने सौराष्ट्र, गुजरात, मालवा, काठियावाड़ आदि देशों के अनेक लुप्तप्राय और संपूर्ण-विलुप्त जैन-तीर्थों का उद्धार किया और अनेक स्थानों में संस्कृत-पाठशालाएँ तथा ज्ञानागार स्थापन कराए।

प्राचीन समय में संस्कृत और प्राकृत-साहित्य में जैनियों का जो स्थान था उसको पुनः प्राप्त कराने की इच्छा धर्मविजयजी के हृदय में हुई। बहुत सोच-विचार करके उन्होंने यह निश्चय किया कि काशी में एक जैन-पाठशाला स्थापित करके जैन-छात्रों को संस्कृत की उत्तम शिक्षा दी जाय तो इस उद्देश की सिद्धि हो सकती है। अतएव उन्होंने उसके लिये प्रयत्न आरंभ कर दिया। अनेक स्थानों में घूम-घूमकर उन्होंने लोगों पर अपने विचार प्रकट किए। उनके इस परमोपयोगी संकल्प का हाल सुनकर अनेक लोग उनके सहायक हो गए। वीरमगाँव में एक कार्य-कारिणी-समिति प्रतिष्ठित हुई। वह समिति पाठशाला के ख़र्च के लिये रुपए जमा करने लगी। कुछ धन इकट्ठा हो जाने पर विजय-धर्मजी, कुछ विद्यार्थियों और जैन-साधुओं को साथ लेकर, काशी को रवाना हुए। जैन-संप्रदाय में साधुओं को किसी सवारी पर चढ़कर एक जगह से दूसरी जगह जाना मना है। अतएव ये लोग पैदल ही रवाना हुए। रास्ते में स्थान-स्थान पर धर्मोपदेश देते हुए सब लोग चार महीने में काशी पहुँचे।

ये लोग, संवत् १९५९ की वैशाख-शुक्ला तृतीया को, काशी में उपस्थित हुए। इसके पहले काशी में जैन-साधुओं का बहुत कम आवागमन था। इससे वहाँ के गृहस्थ जैन अपने साधुओं का उचित सत्कार करना न जानते थे। काशी में जैन यति * ही

* 'यति'-शब्द का अर्थ भी साधु है। किंतु जैनियों में 'यति' उन साधुओं को कहते हैं, जो द्रव्य और धातु छूते हैं, रात को चिराग़ जलाते और भोजन करते हैं, एक जगह से दूसरी जगह सवारी पर जाते हैं, छुरे से हजामत बनवाते और भोग-विलासादि भी करते हैं। 'साधु' उन्हें कहते हैं, जो ये काम नहीं करते। जैन यति शुक्ल वस्त्र पहनते हैं, और जैन साधु पीले।

अधिक रहते थे। इससे वहाँ के गृहस्थ जैनों को यात्रियों के आचार-व्यवहार का ही ज्ञान था। यति और साधु का भेद वे न जानते थे। अतएव मुनि महाराज और उनके साधु शिष्यों के आचार-व्यवहार उन्हें नवीन-से मालूम होने लगे। परंतु विजय-धर्म सूरि और उनके साथ के साधुओं ने काशी के जैन गृहस्थों को अपने उपदेशों द्वारा साधु-जीवन की श्रेष्ठता समझा दी। इसका फल यह हुआ कि वहाँ के जैनों की श्रद्धा-भक्ति इन पर दिन-दिन अधिक होने लगी। इसी समय मुनिजी ने एक प्राचीन धर्मशाला में जैन-पाठशाला का कार्य आरंभ कर दिया। इस पाठशाला का नाम श्रीयशोविजयजैन-पाठशाला * रक्खा गया। इसके बाद मुनि महाराज श्रीधर्मविजयजी को पाठशाला के लिये एक अच्छा मकान प्राप्त करने की फ़िक्र हुई। उन्होंने नंदनसाहु के महल्ले में "अँगरेज़ी कोठी"-नामक मकान उसके लिये उपयुक्त समझा। तब मुनि महाराज के आदेशानुसार उनके शिष्य बंबई-निवासी सेठ वीरचंद दीपचंद, सी० आई० ई०, जे० पी० तथा सेठ गोकुल-भाई मूलचंद ने पचीस हज़ार रुपए में उक्त मकान पाठशाला के लिये ख़रीद दिया। इस मकान में पाठशाला आ जाने पर श्रीधर्मविजयजी ने चेष्टा करके वहाँ एक संस्कृत-पुस्तकालय भी

* यशोविजय एक विख्यात जैन-साधु थे। कोई डेढ़ सौ वर्ष हुए, उन्होंने काशी आकर अपने को ब्राह्मण बताया और नवीन प्रणाली का न्याय-शास्त्र अध्ययन किया। शिक्षा-कार्य समाप्त होने पर उन्होंने अपना यथार्थ वेश प्रकट किया और जैन-मत पर शास्त्रार्थ करके वहाँ के पंडितों को चकित कर दिया। पंडितों ने उनकी बुद्धि का चमत्कार देखकर उन्हें न्यायविशारद की उपाधि दी। उन्हीं के कीर्ति-स्मरणार्थ इसका नाम श्रीयशोविजयजैन-पाठशाला रक्खा गया।

स्थापित किया। उसका नाम "हेमचंद्राचार्य-विद्या-भांडार" * रक्खा गया।

संवत् १९६२ में, प्रयाग में, कुंभ का मेला हुआ। उस समय पंडित मदनमोहनजी मालवीय के उद्योग से वहाँ "सनातनधर्म-महासभा" का अधिवेशन हुआ। उस सभा में भारतवर्ष के सब स्थानों से पंडित लोग आए। श्रीधर्मविजय महाराज भी निमंत्रित होकर पाठशाला के छात्रों और साधुओं के साथ वहाँ गए। उन्होंने माघ-शुक्ल प्रतिपदा के दिन उस सभा का ज्ञान-गोष्ठी द्वारा निर्दिष्ट "ऐक्य"-विषय पर एक बहुत ही उत्तम ज्ञान-गर्भित वक्तृता दी। उस अधिवेशन में उत्कल-खंड के शंकराचार्यजी सभापति हुए थे।

वहाँ से मुनि महाराज फिर काशी लौट आए और पाठशाला की उन्नति के लिये प्रयत्न करने लगे। कुछ दिनों बाद पाठशाला के काम में सहायता देने के लिये उन्होंने अपने एक गुरुभाई को गुजरात से बुलाया। तब पाठशाला का सब काम उनको सिपुर्द करके, संवत् १९६३ की कार्तिक-शुक्ल प्रतिपदा के दिन श्रीधर्मविजयजी

---

* हेमचंद्र जैन-संप्रदाय के एक विख्यात आचार्य हो गए हैं। वह ईसा की बारहवीं शताब्दी में विद्यमान थे। उन्होंने ५ वर्ष की उम्र में दीक्षा ग्रहण की और २१ वर्ष की उम्र में आचार्य की पदवी प्राप्त की। वह संस्कृत के बड़े भारी विद्वान् थे। संस्कृत-भाषा में उन्होंने अनेक विषयों पर ग्रंथ लिखे। वह अणहिल्ल-पाटन के राजा कुमारपाल के राज-गुरु थे। उसके अनुरोध से उन्होंने सिद्धहेम-नामक एक संस्कृत और प्राकृत का व्याकरण लिखा। उन्होंने एक कोष की भी रचना की। वह बहुत प्रामाणिक माना जाता है। उन्हीं के नाम पर पुस्तकालय का यह नाम रक्खा गया।

पार्श्वनाथ-तीर्थ की यात्रा को रवाना हुए। इस समय उनके साथ बहुत-से विद्यार्थी और साधु शिष्य भी थे।

पार्श्वनाथ-यात्रा समाप्त करके वह बीस विद्यार्थियों और पाँच साधुओं को साथ लेकर वंग-देश की ओर चले। कुछ दिनों में वह कलकत्ते पहुँचे। वहाँ भी उन्होंने जैन-धर्म का प्रचार शुरू किया। जैनियों की तो कोई बात ही नहीं, दूसरे धर्मों के अनुयायी भी बड़ी श्रद्धा से उनके उपदेश सुनने लगे। अनेकानेक बंगाली युवकों का धर्म, ज्ञान और विद्या में विशेष अनुराग देखकर उन्होंने राय बद्रीदास बहादुर के मकान पर कई व्याख्यान दिए। इसी समय महामहोपाध्याय पंडित सतीशचंद्र विद्याभूषण का परिचय मुनि महाराज से हुआ। पंडित महाशय मुनिजी के अगाध शास्त्र-ज्ञान पर मुग्ध हो गए। उन्होंने उनसे जैन-दर्शन पढ़ा और उनके उपदेश से मांस-मछली खाना छोड़ दिया।

वंगीय साहित्य-परिषद् के सभ्यों के अनुरोध से श्रीधर्मविजयजी ने उसके दो अधिवेशनों में सभापति का आसन ग्रहण किया। दोनों दफ़े उन्होंने बहुत ही सुंदर और सारगर्भित व्याख्यान दिए। उनकी वक्तृता पर मुग्ध होकर बहुतों ने उनकी सम्मतियों को ठीक माना।

जैन-पाठशाला की संस्कृत-शिक्षा-प्रणाली का सस्कार करने के इरादे से, श्रीधर्मविजयजी ने कलकत्ते से वंग-देश के प्रधान विद्या-पीठ नवद्वीप की यात्रा की। वहाँ जाकर उन्होंने बहुत विचार-पूर्वक वहाँ की शिक्षा-प्रणाली का निरीक्षण किया। नवद्वीप के महामहोपाध्याय पंडितों ने उनका बड़ा आदर किया। वहाँ से वह काशी लौट आए। वहाँ पहुँचकर उन्होंने पाठशाला की दशा बहुत ही बुरी देखी। उसके छात्रों की संख्या ४२ से घटकर ८ हो गई थी। अतएव वह फिर से इसकी उन्नति की चेष्टा करने लगे। अब इस पाठशाला की दिन-दिन उन्नति हो रही है।

श्रीविजयधर्मजी के काशी लौट आने पर, संवत् १९६४ की श्रावण-शुक्ल चतुर्दशी को, श्रीयशोविजयजैन-पाठशाला में एक बड़ी भारी सभा हुई। काशीनरेश महाराज प्रभुनारायणसिंह बहादुर, जी॰ सी॰ एस्॰ आई॰, ने सभापति का आसन ग्रहण किया। इस सभा में भारतवर्ष के अनेक स्थानों के पंडित एकत्र हुए। सबने एकमत होकर श्रीधर्मविजयजी को "शास्त्रविशारद जैनाचार्य" की उपाधि दी। प्रतिष्ठापत्र पर सब पंडितों ने हस्ताक्षर किए।

जैन-पाठशाला में इस समय अच्छे-अच्छे अध्यापक हैं। विद्यार्थियों को संस्कृत और प्राकृत भाषाओं की उत्तम शिक्षा दी जाती है। मुनि महाराज के सुयोग्य शिष्य इंद्रविजयजी पाठशाला का अच्छा प्रबंध करते हैं। परंतु इतने पर भी श्रीधर्मविजय महाराज को संतोष नहीं। उनकी राय है कि पाली-भाषा जाने बिना भारतीय साहित्य, भारतीय इतिहास, भारतीय दर्शन और भारतीय धर्म की शिक्षा पूरी नहीं होती। इसी से उस साल, जब महामहोपाध्याय डॉक्टर सतीशचंद्र विद्याभूषण, एम्॰ ए॰, भारत-गवर्नमेंट की आज्ञा से सिंहल-द्वीप (Ceylon) गए थे, तब मुनि महाराज ने भी अपने दो शिष्यों को पंडित महाशय की निगरानी में रहकर पाली-भाषा सीखने के लिये सिंहल भेजा था। उन दोनों ने वहाँ रहकर पाली भाषा का अध्ययन किया और उसमें अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। वहाँ से लौटने के पहले उन्होंने जैन-धर्म पर पाली-भाषा में एक व्याख्यान दिया। यह व्याख्यान सिंहल के प्रधान विद्यालय में, वहाँ के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध पंडितों और पाली-भाषा-विशारद बौद्ध-साधुओं के सामने, हुआ था। उन विद्यार्थियों को इतने कम समय में पाली-भाषा में ऐसी योग्यता प्राप्त करते देख सुमंगलाचार्य आदि पाली-भाषा के आचार्यों ने उन्हें प्रतिष्ठापत्र और तालपत्र-लिखित पुस्तकों का उपहार दिया। परंतु इतना ख़र्च करके श्रीधर्मविजयजी ने जिस

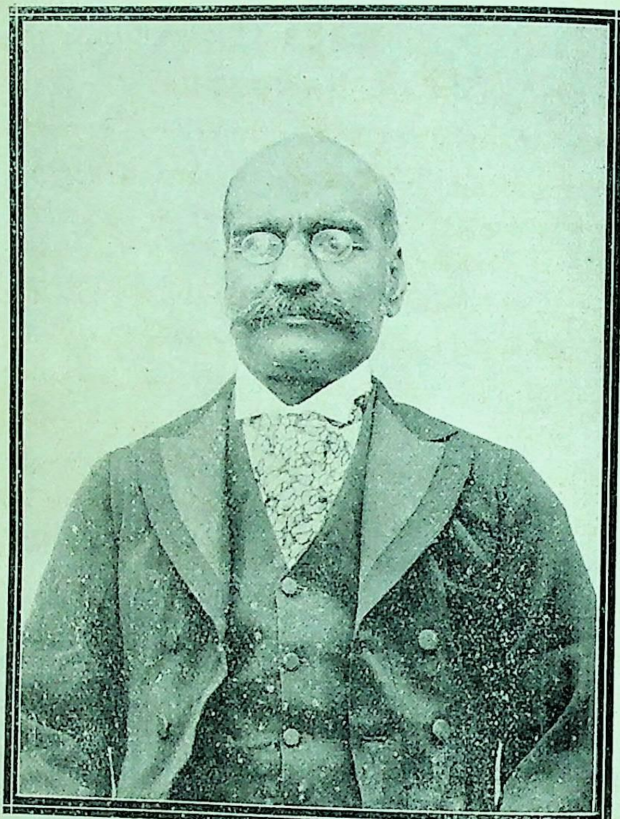
उद्देश से विद्यार्थियों को सिंहल भेजा था वह सिद्ध न हुआ। मुनि महाराज ने विद्यार्थियों को यह जानने के लिये भेजा था कि जैन और हिंदू-दर्शन-शास्त्रों में बौद्ध मत की जो छाया देख पड़ती है, उसका मूल पाली के ग्रंथों में है या नहीं। किंतु सिंहल में बौद्ध साधु दर्शन-शास्त्र पर चर्चा नहीं करते। इस कारण केवल भाषा-मात्र की शिक्षा देकर ही उन लोगों ने दोनों विद्यार्थियों को बिदा कर दिया। मुनि महाराज इन दोनों विद्यार्थियों को इस काम के लिये तिब्बत और ब्रह्म-देश भेजने का विचार कर रहे हैं। इन विद्यार्थियों से नहीं, महापंडितों से, एक बार काशी में मिलकर हमने बहुत आनंद प्राप्त किया है।

लुप्त जैन-ग्रंथों का उद्धार और उनका प्रचार करना भी धर्म-विजयजी के जीवन का एक उद्देश है। इस उद्देश की सिद्धि के लिये उन्होंने पाठशाला से "श्रीयशोविजय-जैन-ग्रंथमाला" प्रकाशित करना आरंभ किया है। अब तक उस माला में १५,१६ पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। यह ग्रंथमाला हर महीने प्रकाशित होती है। इसके लिये पाठशाला में एक छापाख़ाना भी है। इस पुस्तक-माला से केवल जैन-धर्म ही का उपकार नहीं होता, प्राचीन इति-हास और भाषा-तत्त्व की भी बहुत कुछ सामग्री इसकी बदौलत इकट्ठी हो रही है।

श्रीविजयधर्म सूरिजी श्वेतांबर-संप्रदाय के जैनों के प्रधान आचार्य हैं। बड़े ही दृढ़-व्रत और सत्यनिष्ठ हैं। उनकी स्थापित की हुई जैन-पाठशाला में जैन-विद्यार्थियों के सिवा हिंदू-विद्यार्थियों को भी शिक्षा दी जाती है। वे दोनों ही पर समान दृष्टि रखते हैं। दोनों ही के अभाव-मोचन की एक-सी चेष्टा करते हैं। उनकी राय है कि प्रकट रूप से जैन-धर्म ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं। जैन-धर्म के उपदेशों के अनुसार कार्य करना

ही यथार्थ धर्म-ग्रहण करना है। वह जैन-धर्म को ही भारत का आदि और मुख्य धर्म मानते हैं। योरप में जैन-धर्म का प्रचार करने की ओर भी उनका ध्यान है। वह जैन-शास्त्र के पंडित और धर्म-प्रचार-समर्थ दो-तीन छात्रों को योरप भेजने का भी विचार कर रहे हैं। मुनि महाराज जैन-शास्त्र और जैन-धर्म में विशेष श्रद्धा रखनेवाले योरप के विद्वानों को प्राचीन जैन-शास्त्र के ग्रंथ पढ़ने को देते हैं और पत्र द्वारा उनकी शंकाओं का समाधान भी किया करते हैं। उन्होंने "बिबलिओथिका इंडिका" नाम की अँगरेज़ी-ग्रंथमाला में योग-शास्त्र आदि पुस्तकों का स्वयं संपादन किया है और अन्यान्य पंडितों को अनेक प्राचीन जैन-ग्रंथों के संपादन में सहायता दी है। इसके सिवा जैन-तत्त्व-दिग्दर्शन, आत्मोन्नति-दिग्दर्शन, पुरुषार्थ-दिग्दर्शन, इंद्रियपराजय-दिग्दर्शन आदि कितने ही ग्रंथों की उन्होंने रचना की है। इन ग्रंथों को पढ़ने से उनके गंभीर विचारों का अच्छा परिचय मिलता है। वह संसार की भलाई की ही सदा चिंता किया करते हैं। भूत-दया, अहिंसा और स्वार्थ-त्याग उनका मूलमंत्र है। फ़्रांस की राजधानी पेरिस से एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल की तरह की एक पत्रिका निकलती है। उसका नाम है जर्नल एशियाटिक़ (Journal Asiatique) उसके गत वर्ष के एक अंक में एक फ़्रांसीसी विद्वान् ने श्रीविजयधर्म सूरि का जीवन-चरित्र प्रकाशित किया है और उसमें उनके गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। अभी हाल ही में उन्होंने, काशी में, एक पशुशाला भी स्थापित की है। महाराज काशिराज उसके संरक्षक हुए हैं। आप बड़े महात्मा हैं। आपके दर्शनों से हम कई बार कृतार्थ हो चुके हैं।

[जून १९११



पं० विशननारायण दर

(११)

पंडित विशननारायण दर

पंडित विशननारायण दर १६११ ईसवी की कांग्रेस के सभापति थे। आपका जन्म बाराबंकी-ज़िले में, १८६४ ईसवी में, हुआ था। बाल्यावस्था में आपको उर्दू और फ़ारसी पढ़ाई गई। कुछ दिनों बाद अँगरेज़ी भी आरंभ करा दी गई। छोटेपन से आपकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। आप बात को बहुत जल्द समझ लेते थे। आप अध्ययनशील भी बड़े थे। जब आप अँगरेज़ी के मिडिल और एट्रेंस क्लासों में थे तभी से आप अँगरेज़ी के धुरंधर लेखकों की बनाई हुई पुस्तकें पढ़ने लगे थे। एंट्रेंस पास करके आप लखनऊ के कैनिंग-कॉलेज में पढ़ने गए। वहाँ आपने कॉलेज के पुस्तकालय की अधिकांश पुस्तकें पढ़ डालीं। पढ़ते तो आप एफ़०ए० ही में थे; परंतु आपकी योग्यता यहाँ तक बढ़ी-चढ़ी थी कि उस समय भी आप मिल, हर्बर्ट स्पेन्सर, ह्यूम, कारलाइल इत्यादि विख्यात अँगरेज़-विद्वानों और पंडितों की बनाई पुस्तकों का अध्ययन और मनन किया करते थे। आप देश-गति से भी अनभिज्ञ न थे। उन्हीं दिनों आप काश्मीरी-क्लब के सभासद हो गए थे। उक्त क्लब की राजकीय, सामाजिक और नैतिक बातों में आप भी योग देते थे। आपका कथन है कि काश्मीरी-क्लब के कारण आपकी बहुत कुछ मानसिक उन्नति हुई।

आपके हृदय में विलायत जाने की प्रबल इच्छा बहुत दिनों से थी। यह वह समय था जब लोग विदेश जाना बहुत बड़ा पाप समझते थे। समाज-दंड के भय से कोई विलायत जाने का नाम न

लेता था। उस समय तक काश्मीरी समाज में से, जिसके आप एक रत्न हैं, किसी ने भी देश से बाहर पैर रखने का साहस न किया था। काश्मीरी-क्लब में सम्मिलित होने पर आपकी विदेश-यात्रा की इच्छा और भी प्रबल हो गई। इसी बीच में आप, गणित में कमज़ोर होने के कारण, एफ़० ए० की परीक्षा में फ़ेल हो गए। फ़ेल होने पर आपकी विलायत जाने की इच्छा और भी प्रबल हो गई। एक दिन बिना किसी से कहे-सुने आप बंबई चले गए और वहाँ से जहाज़ पर बैठ इँगलैंड पहुँचे। विलायत में आप तीन वर्ष तक रहे। वहाँ आप बारिस्टरी का व्यवसाय सीखते रहे। साथ ही आप इतिहास, राजनीति, तत्त्व-विद्या इत्यादि का भी अध्ययन करते रहे। अनेक अँगरेज़-विद्वानों के ग्रंथों को आपने वहाँ बड़े ही अभिनिवेश से पढ़ा। विलायत ही में आपकी भेंट माननीय मिस्टर चंदावरकर और परलोक-निवासी मिस्टर लालमोहन घोष से हुई। इस भेंट का फल यह हुआ कि आप राजनीति की ओर बहुत झुक गए। बारिस्टरी पास करके आप भारत लौटे।

आपकी रुचि क़ानून में विशेष न थी। बारिस्टरी आपने केवल जीविकोपार्जन के लिये ही सीखी थी। देश में आकर आप राजनीतिक विषयों की ओर झुके। देश के राजनीतिक आंदोलनों में भी आप शरीक होने लगे। १८८७ ईसवी में कांग्रेस का तीसरा अधिवेशन मदरास में हुआ। कांग्रेस से संबंध जोड़ने का आपने वहीं से श्रीगणेश किया। इस अधिवेशन में आपकी विद्वत्ता-पूर्ण और ओजस्विनी वक्तृता सुनकर कांग्रेस के प्रधान स्तंभ मिस्टर ह्यूम आपके ऊपर बड़े प्रसन्न हुए। इसके बाद १९०३ की कांग्रेस में आपने ऑफ़ीशियल सीक्रेट बिल का अच्छा प्रतिवाद किया। १९०८ में लखनऊ की प्रांतीय कानफ़्रेंस में आपने सरकारी कौंसिलों की त्रुटियाँ योग्यता-पूर्वक बतलाईं। गत वर्ष आप प्रांतीय कानफ़्रेंस के सभापति थे।

आपका उस समय का भाषण बड़ा सार-गर्भित था। १८९३ में आज़मगढ़ में हिंदू-मुसलमानों में गोहत्या-विषयक बहुत रक्तपात हुआ था। इस झगड़े में अपराधियों के साथ कितने ही निरपराध मनुष्य भी पकड़े गए। किसी भी वकील या बारिस्टर को निर्दोष मनुष्यों के पक्ष में खड़े होने का साहस न होता था। ऐसे समय में आप आज़मगढ़ पहुँचे और वहाँ का सब हाल देख-सुनकर आपने एक छोटी-सी पुस्तक प्रकाशित की। आपकी कृपा और परिश्रम से कितने ही निर्दोष मनुष्य दंडित होने से बच गए। इस काम से आपको बहुत यश मिला।

आप बहुत अच्छी अँगरेज़ी लिखते हैं। आपके लेखों से आपकी योग्यता का अच्छा परिचय मिलता है। बड़े-बड़े अँगरेज़ विद्वानों ने आपके लेखन-कौशल की प्रशंसा की है।

आप उर्दू और फ़ारसी भी अच्छी जानते हैं। आपने फ़ारसी-कवियों के ग्रंथों का विशेष परिशीलन किया है। उर्दू के आप अच्छे कवि हैं। आपका मत है कि जातीय उन्नति के लिये देशी भाषाओं का जानना परमावश्यक है। आपमें एक और बड़ा भारी गुण यह है कि आप अपनी प्रसिद्धि के इच्छुक नहीं।

इधर कुछ वर्षों से आप राजयक्ष्मा-रोग से पीड़ित थे। दिन-रात रोग-शय्या पर पड़े रहते थे। मिहनत करने अथवा चलने-फिरने की शक्ति न थी। तो भी आप सदा प्रसन्नचित्त रहते थे और देश की सामाजिक और राजनीतिक दशा पर बातचीत करके समय व्यतीत करते थे। ख़ुशी की बात है, अब आप पहले से बहुत अच्छे हैं।

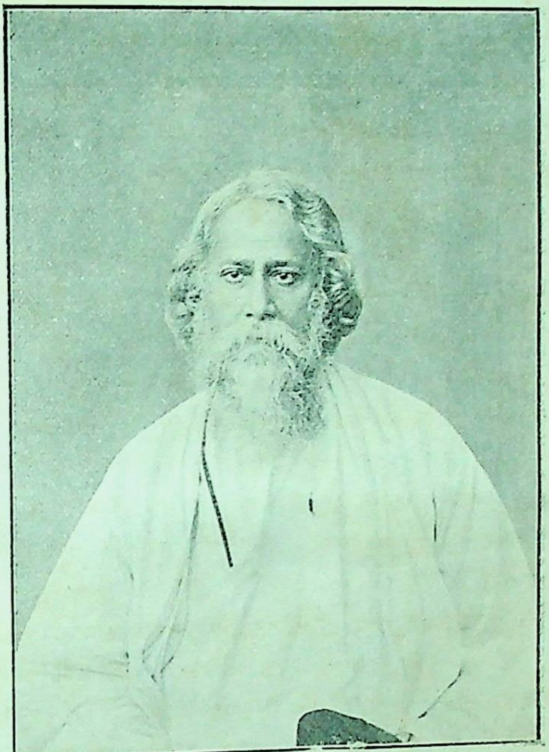
[जनवरी १९१२

कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर

कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर बंगाल के प्रसिद्ध पुरुषों में से हैं। वह वंग-साहित्य के देदीप्यमान रत्न हैं। बंगाल में ऐसा कोई भी घर न होगा, जिसमें उनके काव्य और निबंध, उनके उपन्यास और नाटक, उनकी आख्यायिकाएँ और गान न पढ़े जाते हों। उन्होंने अपनी लेखनी के बल से शिक्षित बंगालियों के विचारों में बहुत बड़ा परिवर्तन कर डाला है। इसीलिये वह इस समय वंग-भाषा के अद्वितीय लेखक समझे जाते हैं।

रवींद्र बाबू का जन्म सन् १८६० ईसवी में हुआ था। वह बाबू द्वारकानाथ ठाकुर के पौत्र और सुप्रसिद्ध महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर के पुत्र हैं। उनका वंश अपनी विद्वत्ता के लिये चिरकाल से प्रसिद्ध है। इसी वंश में कितने ही धार्मिक, दार्शनिक, साहित्य-सेवी और शिल्पकार पुरुषों ने जन्म लेकर वंग-देश का मुख उज्ज्वल किया है।

रवींद्र बाबू मातृ-स्नेह से वंचित रहे। शैशव काल ही में उनकी माता का देहांत हो गया था। पिता, महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर, ही ने उनका पालन-पोषण किया। रवींद्र बाबू ने किसी कॉलेज में शिक्षा नहीं पाई। स्कूल की साधारण शिक्षा प्राप्त कर लेने पर उन्होंने आगे पढ़ना बंद कर दिया। घर पर ही उनको जो शिक्षा मिली और उनके पिता ने उनके हृदय-क्षेत्र पर जिस बुद्धि-विकासक बीज का वपन किया, उसी की बदौलत रवींद्र बाबू कुछ-के-कुछ हो चले।



कवींद्र रवींद्र

लड़कपन ही से रवींद्र बाबू ने अपनी कुशाग्र-बुद्धि का परिचय देना आरंभ कर दिया। जब वह पूरे १६ वर्ष के भी न थे तभी से गद्य और पद्य, दोनों ही बहुत अच्छी प्रकार लिखने लगे। उन्हें गाने का शौक़ भी लड़कपन से ही हुआ। पिता को वह बहुधा पारमार्थिक गीत गा-गाकर सुनाते थे। पिता ने उनके गाने से प्रसन्न होकर उन्हें—"बंग-देश की बुलबुल"—की उपाधि दी थी।

ज्यों-ज्यों रवि बाबू की वयोवृद्धि होती गई, त्यों-त्यों उनके विशेष गुणों का भी परिचय मिलता गया। बँगला-साहित्य के जिस विभाग में उन्होंने हाथ डाला उसी में उन्हें सफलता प्राप्त हुई। रवींद्र बाबू मानव-जाति के भिन्न-भिन्न भावों को शब्द-चित्र द्वारा खींचने में बड़े ही कुशल हैं। उनके लिखने की शैली में कुछ ऐसा जादू है कि वह जिस ओर चाहें अपने पाठक की रुचि फेर दें। उनके लेखों में आध्यात्मिकता भी रहती है। उनकी बदौलत बंगाल के आध्यात्मिक जीवन में बहुत उलट-फेर हो गया है। छोटी-छोटी शिक्षा-प्रद आख्यायिकाएँ लिखने में वह अपना सानी नहीं रखते। भारती, बालक, साधना और बंगदर्शन-नामक बँगला की चार मासिक पुस्तकों का संपादन भी उन्होंने बहुत काल तक किया है।

रवींद्र बाबू केवल लेखक ही नहीं हैं। वह बड़े भारी अभिनेता भी हैं। उनका सुर बहुत मीठा तो नहीं, पर संगीत-विद्या के वह पूरे ज्ञाता हैं। उन्होंने अनेक गीत बनाए हैं। उन गीतों को गाने में वह नए-नए सुरों का प्रयोग करते हैं। वह, कभी-कभी, त्योहारों या ब्रह्मसमाज के उत्सवों पर सर्व-साधारण के सामने भी गाते हैं।

वह वक्ता भी अच्छे हैं। उनकी वक्तृता बड़ी ही हृदयहारिणी होती है। उसे वह प्रायः लिखकर सुनाते हैं। उनके पढ़ने का ढंग

ऐसा अच्छा है कि लोग तन्मनस्क हो जाते हैं। जब कभी उनकी वक्तृता अथवा गान सर्व-साधारण में होता है तब बेहद भीड़ होती है।

रवींद्र बाबू बड़े स्वदेश-भक्त हैं! उन्होंने स्वदेश-भक्ति पर कितनी ही कविताएँ लिखी हैं। मातृभूमि के वह पक्के आराधक हैं और स्वदेश-प्रेम से उनका हृदय परिपूर्ण है। परंतु उनकी इस देश-भक्ति में संकीर्णता और विदेश तथा विदेशियों के प्रति द्वेष नाम को भी नहीं। वह राजनीतिज्ञ भी हैं; परंतु उनकी राजनीतिज्ञता वितंडा ही में नहीं समाप्त हो जाती। उनकी राजनीति चरित-निर्माण से बहुत अधिक संबंध रखती है।

रवींद्र बाबू न बी० ए० हैं और न एम्० ए०। उन्होंने किसी विश्वविद्यालय से कोई उपाधि नहीं पाई। परंतु वह इतने अध्ययनशील हैं कि प्रसिद्ध-प्रसिद्ध भाषाओं की नामी-नामी पुस्तकों में शायद ही कोई ऐसी हो जिससे वह परिचित न हों। केवल ज्ञान-वृद्धि के लिये उन्होंने भारत ही में भ्रमण नहीं किया, किंतु योरप, अमेरिका और जापान भी घूम आए हैं। लंदन में उन्होंने कुछ काल तक अँगरेज़ी-साहित्य की शिक्षा भी प्राप्त की है। कलकत्ते के पास बोलपुर में रवींद्र बाबू का एक "शांतिनिकेतन" है। उसमें उन्होंने एक ब्रह्मचर्याश्रम खोल रक्खा है। वहाँ विद्यार्थी अपने शिक्षकों के साथ रहकर, ब्रह्मचर्य-पालन करते हुए, उपयोगी शिक्षा प्राप्त करते हैं। आगे चलकर यह निकेतन विश्वभारती का रूप ग्रहण करनेवाला है।

साहित्य-सेवियों में बहुधा पारस्परिक प्रीति का अभाव देखा जाता है। इसे बहुत लोग अच्छा नहीं समझते। इस अभाव को दूर करने की चेष्टा भी, कभी-कभी, सभा-समिति-सम्मेलन करके की जाती है। इस विषय में, रवींद्र बाबू ने एक लेख में अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट की है—

"इसमें संदेह नहीं कि साधारणतः मनुष्यों में पारस्परिक प्रीति का होना कल्याणकारी है। साहित्य-सेवियों में भी यदि प्रीति-बंधन घनिष्ठ हो तो अच्छी बात है। परंतु साहित्य-सेवियों में प्रीति-विस्तार से किसी विशेष फल की प्राप्ति हो सकती है, यह मानने के लिये मैं तैयार नहीं। अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि लेखक लोग यदि एक दूसरे को प्यार करें, तो इससे उनके रचना-कार्य में भी विशेष सुबीता हो अथवा लेखकों का इससे कोई विशेष उपकार हो। व्यवसाय की दृष्टि से प्रत्येक साहित्य-सेवी स्वतंत्र है। वे लोग परस्पर परामर्श करके, सम्मिलित भाव से, अपना-अपना काम नहीं करते (क्योंकि वे किसी ज्वाइंट स्टॉक कंपनी के मेंबर नहीं)। प्रत्येक लेखक अपनी निज की प्रणाली का अनुसरण करके, अपनी-अपनी विद्या-बुद्धि के अनुसार, सरस्वती की सेवा करता है। जो लोग दस आद-मियों के दिखाए पथ पर चलकर, निश्चित नियमों के अनुसार, काम करना चाहते हैं, सरस्वती कभी उनको अमृत फल देने की कृपा नहीं करती (साहित्य में सांप्रदायिकता इष्ट नहीं)।"

"जो साहित्य-सेवी इस प्रकार एकाधिपत्य द्वारा परिवेष्टित हैं उनमें कभी-कभी पारस्परिक परिचय और प्रीति नहीं देखी जाती; कभी-कभी तो उनमें ईर्ष्या और कलह की संभावना तक हो जाया करती है। एक पेशेवालों में चढ़ा-उपरी का भाव दूर करना दुःसाध्य है। मनुष्य-स्वभाव में बहुत कुछ संकीर्णता और विरूपता है। उसका संशोधन करना प्रत्येक मनुष्य की अपनी आंतरिक चेष्टा का काम है। किसी कृत्रिम प्रणाली द्वारा उसका प्रतिकार नहीं हो सकता। यदि इस तरह प्रतिकार संभव होता तो इस समय, इस विषय में, जो उद्योग हम लोग कर रहे हैं उसके बहुत पहले ही सत्ययुग का आविर्भाव हो गया होता।"

रवींद्रनाथ बाबू ने गद्य-पद्यात्मक सैकड़ों पुस्तकें बँगला में लिखी हैं। अँगरेज़ी लिखने की योग्यता रखने पर भी वह उस भाषा में अपने विचार नहीं प्रकट करते। यहाँ तक कि जो लोग अपने देश-भाइयों और आत्मीय जनों के साथ अँगरेज़ी-भाषा में पत्र-व्यवहार करते हैं उनके इस काम को रवींद्र बाबू लज्जाजनक और गर्हित समझते हैं।

रवींद्र बाबू एक महान् पुरुष हैं। सरस्वती ही की आराधना करके वह महान् हुए हैं। गत जनवरी में बंगाल ने जो सम्मान रवींद्र बाबू का किया और हाथीदाँत के पत्र पर खचित अभिनंदन-पत्र, रजत-अर्घ्यपात्र, सोने का एक कमल और एक माला आदि चीज़ें जो उन्हें भेंट कीं वह सम्मान और वह भेंट यथार्थ में रवींद्र बाबू की नहीं, किंतु देवी सरस्वती की है। धन्य है वह देश और वह जाति जो अपने साहित्य-सेवियों का आदर करके भगवती सरस्वती की उपासना करे और धन्य है वह महान् पुरुष जो सरस्वती-मंदिर का पुजारी होने के कारण अपने देश और जाति-वालों से सम्मानित हो।

[मार्च १९१२

लाला बलदेवदास

अनेक विद्वानों की यह समझ है कि कवित्व-शक्ति की प्राप्ति बहुत करके ईश्वर की कृपा पर ही अवलंबित है। जो कवि हैं वे कवित्व-शक्ति का बीज लेकर ही जन्म लेते हैं। उन्हें अच्छी शिक्षा चाहे मिले, चाहे न मिले, कविता उनकी अवश्य ही अच्छी होती है। जिनमें कवित्व का बीज नहीं वे अच्छे विद्वान् और अच्छे पंडित होकर भी स्वाभाविक कवियों की बराबरी नहीं कर सकते। विद्वत्ता के बल पर की गई कविता से न तो सर्व-साधारण का विशेष मनोरंजन ही होता है और न उन्हें उससे विशेष शिक्षा ही मिलती है। प्रकृत कवियों की वाणी में जो रस और जो मधुरता होती है वह बल-पूर्वक बने हुए कवियों की वाणी में नहीं होती। जिन कविजी का परिचय देने के लिये हम यह स्वल्प लेख लिख रहे हैं उन्होंने यद्यपि अधिक प्रसिद्धि नहीं प्राप्त की तथापि उनकी पुस्तकों से सिद्ध होता है कि वह प्रकृत कवि हैं। बंगाल में एक जगह रानीगंज है। वहाँ के श्रीयुत जगन्नाथ झुंझुनूवाले ने हमारे पास जो सामग्री भेजी है उसी के आधार पर हमने यह लेख लिखा है।

रानीगंज में सावित्री-विद्यालय नाम की एक पाठशाला है। मुंशी भवानीचरण-नामक एक सज्जन उसके प्रधान अध्यापक हैं। वह बाँदा-ज़िले के रहनेवाले हैं। उसी ज़िले में, राजापुर के पास, खटवारा नाम का एक गाँव है। कवि बलदेवदास वहीं के रहनेवाले हैं। लाला भवानीचरण उनसे अच्छी तरह परिचित हैं। उनसे

अनेक बार मिलने और उनके साथ रहने का उन्हें सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है। कविजी की कविता और उनके अन्य गुणों पर मुग्ध होकर लालाजी ने कविजी से प्रार्थना की कि आप अपना संक्षिप्त जीवन-चरित्र लिख भेजने की कृपा कीजिए। कविजी ने उनकी यह प्रार्थना मान ली। आषाढ़-शुक्ल सप्तमी, संवत् १९७२ को, एक पत्र उन्होंने लाला भवानीचरणजी को लिखा। उसी में उन्होंने अपना संक्षिप्त हाल लिख भेजा। लालाजी ने इसी पत्र की नक़ल हमारे पास ज्यों-की-त्यों भेज दी है। वह नीचे दी जाती है—

"प्रियवर मुंशी भवानीचरणजी श्रीवास्तव—अनेकानेक जयराम-जी स्वीकृत हो। आपका पत्र मिला। उत्तर देने में विलंब हुआ। कारण यह था कि मैं बाबू भगवानवत्ससिंह, राज्य कटारी, ज़िला सुल्तानपुर, की एक नई पुस्तक बनाने में लगा था। क्षमा कीजिएगा। मेरी जीवनी आपने माँगी। अपने ही मुख अपना वृत्तांत कहते मुझे लज्जा आती है। पर यदि आपका विशेष आग्रह है तो कुछ लिखता हूँ।

"ज़िला बाँदा, डाकख़ाना राजापुर, से एक मील दक्षिण खटवारा नाम का एक गाँव है। खटवारा कैथवारा का अपभ्रंश है। वहाँ कायस्थों की बस्ती है। बांधवगढ़-नरेश, महाराज व्याघ्रदेव, के समय में गुजरात से एक कायस्थ (श्रीवास्तव, दूसरे) वहाँ आए। उनका नाम राय मनोहरलाल था। वह पहले बांधवगढ़ में रहे। फिर महाराज व्याघ्रदेव की आज्ञा और कृपा से उन्होंने कैथवारा गाँव बसाया और वहीं वह रहने लगे। उन्हीं की पंद्रहवीं पीढ़ी में सुखनंदन उपनाम सुखदेव नाम के एक भगवद्भक्त सज्जन पैदा हुए। उनका आचरण हमारे अन्य पूर्वजों के आचरण से विभिन्न था। अन्य पूर्वज १४ पीढ़ियों से क्षत्रिय-राजों, बादशाहों

और अँगरेज़ सरकार की नौकरी करते आते थे। पर, सुखदेवजी बाल्यावस्था से ही भगवद्भक्ति और तीर्थाटन में मस्त रहने लगे। पिता के मरने पर वह रीवाँ में नौकर होकर वहीं रहने लगे। पर, उनका अधिकांश समय ईश्वर की अर्चना ही में व्यतीत होता था। रीवाँ में ही रहकर उन्होंने गोविंदचरित्र नाम की एक पुस्तक लिखी। उन्हीं की ग्यारहवीं संतान मैं हूँ। मेरा जन्म संवत् १६०८ में, आश्विन-शुक्ला चतुर्थी को, हुआ था। संवत् १६११ में मेरे माता-पिता मुझे, मेरे बड़े भाई और एक बहन को लेकर अपने गाँव खटवारे में आ गए।

"मेरे पिता विरक्त स्वभाव के तो पहले ही से थे। संवत् १६११ के आषाढ़-मास में वह मुझे, मेरे बड़े भाई और मेरी बहन को, मेरी माता के अधीन छोड़कर, तीर्थ-यात्रा के बहाने घर से चले गए। मेरी उम्र उस समय केवल ढाई वर्ष की थी। चलते समय पिताजी मेरी माता से कह गए थे कि तू अपने बड़े पुत्र गुरुचरणलाल का भरोसा न रखना। तेरा यह छोटा पुत्र ही तेरी सेवा करेगा। घर से चले जाने पर पिताजी का फिर कुछ पता न लगा कि वह कहाँ गए। २९ वर्ष की उम्र में मेरे बड़े भाई का देहांत हो गया। बहन का ब्याह हो गया; वह अपने घर गई।

"मैं जब एक वर्ष का हुआ तभी से मेरे पिता भगवान् का मंत्र मेरे कान में कई बार सुनाया करते थे। उनके चले जाने पर मेरी माताजी भी ऐसा ही करती रहीं। फल यह हुआ कि जब से मैं बोलने लगा तभी से मेरे मुँह से ॐकार निकलने लगा। लोग कहते हैं कि बचपन में मेरे मुँह से कभी-कभी अद्भुत बातें निकल जाया करती थीं।

"पिता ने मेरा नाम कृष्णनारायण रक्खा था। पर, माता मुझे बलदेव कहकर पुकारा करती थीं। इसी कारण गाँव के सब लोग भी

मुझे बलदेव ही कहते थे। सात वर्ष की उम्र में मैं गाँव के हल्क़ा-बंदी मदरसे में पढ़ने के लिये भरती करा दिया गया। पिताजी के संस्कार से बचपन से ही मुझे भी हनूमान्‌जी का इष्ट हो गया। मैं भी नित्य पूजा-पाठ करने लगा। एक दिन शाम को एक भिक्षुक मुझे राह में मिला। उसने मुझसे कहा कि तुम नित्य हनूमान्‌जी को तुलसी-कृत रामायण का पाठ सुनाया करो। तब से मैं रोज़ राजापुर जाता और वहाँ यमुना में स्नान करके हनूमान्‌जी को रामायण सुनाता। इस तरह मुझे कोई चार वर्ष बीत गए। एक दिन हनूमान्‌जी के मंदिर में एक साधु मिले। उन्होंने मुझे हनुमत्कवच पढ़ाया और मुझसे कहा कि अपने घर पर ही पाँच बार इसका पाठ प्रतिदिन किया करो और हर मंगलवार को राजापुर आकर हनूमान्‌जी का दर्शन कर जाया करो। तब से मैं आज तक बराबर हनुमत्कवच का नित्य पाठ करता हूँ और यथासाध्य प्रति मंगलवार को हनूमान्‌जी के दर्शनों के लिये भी जाता हूँ।

"संवत् १६२१ के आश्विन-मास में मैंने एक स्वप्न देखा। तदनुसार मैं प्रातःकाल ही हनूमान्‌जी के मंदिर में पहुँचा। वहाँ जाने पर हनूमान्‌जी के सामने मैंने सिर झुकाया। उस समय अनायास ही मेरे मुख से छंदोबद्ध वाक्य निकलने लगे। मुझमें उस समय यह ज्ञान न था कि मेरे मुख से कौन-सा छंद या कैसे वाक्य निकल रहे हैं। मैं बराबर ५ सवैए कहता गया। उनमें से पहला यह था—

"बाल-बिनोद बिसूरि तेरो अब लौं रबि शक्र शिखी उर काँपै;
रामहि ल्याय मिलाय सुकंठहि राज दिलाय दियो तेहि आपै।
नाँघि नदीश गयो रिपु-देश सँदेश कह्यो मिथिलेश-सुता पै;
संकटमोचन पाहिं तरै सुमिरे बलदेव न संकट ब्यापै।"

"हनूमान् की स्तुति करके मैंने ज्यों ही श्रीरामचंद्र की तरफ़ आँख उठाई त्यों ही मेरे मुख से उनकी स्तुति के भी छंदोबद्ध

वाक्य निकले। ये वाक्य सोरठा-छंद में थे। मैंने सात सोरठों में रामचंद्रजी की स्तुति की। उनमें से तीन की नक़ल नीचे देता हूँ—

"ओम् परब्रह्म अखंड, प्रगट जो भगवत-भक्त हित।
खंड्यो हर-कोदंड, जयति राम सोइ सियसहित॥ १॥
रंग-भवन सुखसाज, राज तज्यो पितु-बचन सन।
भूमि, सुरभि, सुर-काज, सिय सानुज किय बन-गवन॥ २॥
राम लषन सिय साथ, अग्र चले मुनि-भय-हरन।
धरे विशिख धनु हाथ, दंडक-बन पावन-करन॥ ३॥"

"मेरे मुख से इस प्रकार नवीन छंद निकलते सुन मंदिर के महंत और पुजारी आदि जो वहाँ उपस्थित थे, बड़े विस्मित हुए। उन लोगों ने क़लम-दावात मँगाई। मैंने वह कविता उन्हें लिखा दी।

"इसके बाद मैं रामायणी कथा को छंदोबद्ध करने लगा। कुछ लिखा भी। पर सफलता न हुई। तब मैंने यह हाल उन महात्मा से कहा जिन्होंने मुझे पंचमुखी-कवच पढ़ाया था। उन्होंने गुरु-दीक्षा लेने की सलाह दी। मैंने उनकी सलाह से अपने ही गाँव के एक विद्वान् पंडित से भगवन्मंत्र सुना। तब मैं फिर रामायणी कथा की रचना करने लगा। अब की बार मेरा मनोरथ सफल हो गया।

"आसपास के गाँव के लोगों ने जब यह सुना कि एक लड़के ने रामायण की रचना की है तब उन्हें आश्चर्य हुआ। बहुत-से लोग मुझे और मेरी रामायण देखने आने लगे। राजापुर में बाबा छीतूदास एक प्रसिद्ध महात्मा हो गए हैं। वे उस समय विद्यमान थे। वे भी मेरे गाँव आए। मेरी रामायण देखकर वह बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने मुझे आशीर्वाद दिया।

"मैं अब तक मदरसे में ही पढ़ता था। एक बार स्कूलों के

सब-डिपुटी-इंसपेक्टर, पंडित बलदेवप्रसाद तिवारी, मदरसे का मुआइना करने आए। मेरा हाल सुनकर उन्होंने मुझे एक समस्या दी। मैंने उसकी पूर्ति कर दी। इसके कुछ समय बाद बाबू अंबिका-प्रसाद, डिपुटी-इंसपेक्टर, आए। उन्होंने भी मुझे एक समस्या दी। उसकी भी मैंने पूर्ति कर दी। इस पर उन्होंने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की।

"जब मैं राजापुर के मदरसे में पढ़ता था तब वार्षिक परीक्षा लेने के लिये स्कूलों के इंसपेक्टर, राजा शिवप्रसाद, सितारेहिंद, वहाँ आए। मेरा हाल सुनकर उन्होंने भी एक समस्या दी और मैंने उसकी पूर्ति कर दी। तब मेरी बनाई हुई और-और पुस्तकें भी उन्होंने मँगाकर देखीं। वह बड़े प्रसन्न हुए। मुझे १५) इनाम देकर डिपुटी-इंसपेक्टर, काशी, की मारफ़त वे मुझे बुला गए।

"एप्रिल-महीने में मैं काशी गया। राजा शिवप्रसाद ने अपने मित्रों से मेरी चर्चा पहले ही से कर दी थी। मैं बनारस-ज़िले के डिपुटी इंसपेक्टर ऑफ़ स्कूल्स, बाबू प्रियनाथ, के यहाँ ठहराया गया। राजा साहब के मित्र और काशी-नरेश के सभासद् भट्टाचार्यजी वहाँ मुझसे मिले। उन्होंने मुझे समस्या दी और मैंने उसकी पूर्ति कर दी। उन्होंने काशी-नरेश से मेरा ज़िक्र किया। एक रोज़ भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र भी मुझे देखने आए। उन्होंने मुझे ९ समस्याएँ दीं। प्रत्येक की पूर्ति के लिये उन्होंने मुझे पाँच-पाँच रुपए देने कहा। इनकी पूर्ति मैंने शीघ्र ही कर दी। बाबू साहब मुझ पर बड़े प्रसन्न हुए और मुझे अपने वचन के अनुसार इनाम दिया। इन सब समस्याओं की पूर्ति उक्ति-परीक्षा-नामक मेरी पुस्तक में है। यह पुस्तक बंबई से हरिप्रसाद भागीरथ द्वारा प्रकाशित हुई है।

"पंद्रह दिन काशी में रहने के अनंतर राजा शिवप्रसाद ने मुझे बनारस के नॉर्मल-स्कूल में भरती करा दिया। वहाँ मैं ६ महीने तक पढ़ता रहा। इसके बाद राजा साहब ने स्कूल से मेरा नाम

कटाकर मुझे काशी-नरेश की सभा का सभासद् नियत कर दिया। कुछ समय तक रामनगर में रहकर मैं वहाँ से चला आया। तब से, अर्थात् संवत् १९२६ से संवत् १९५४ तक, मैं काशी-नरेश के यहाँ समय-समय पर बराबर जाता रहा। महाराज काशी-नरेश, श्रीमदीश्वरीप्रसादनारायणसिंह, के स्वर्गवास के अनंतर मैंने वहाँ जाना छोड़ दिया।

"अब तक मैंने छोटे-बड़े सब मिलाकर कोई ३४ ग्रंथ लिखे हैं। उनके नाम नीचे देता हूँ—

(१) रामायण रामसागर
(२) भारतकल्पद्रुम
(३) वर्षा-रामायण
*(४) विष्णुपदी रामायण
(५) अनुभव-रामायण
(६) हनुमत-हाँक
(७) हनुमान्-साठिका
(८) बजरंग-बीसा
*(९) उक्ति-परीक्षा, प्रथम भाग
(१०) शक्ति-चंद्रिका
(११) कृष्ण-चंद्रिका
*(१२) रुद्र-पचासा
(१३) भैरवनाथ का बीसा
(१४) गुरु-माहात्म्य
*(१५) मानव-परीक्षा
(१६) अनुभव-रहस्य
*(१७) जानकी-विजय
(१८) विनय-कवितावली
(१९) सूर्य-चालीसा
(२०) गणेश-बत्तीसी
(२१) चंडी-शतक
(२२) ग़ज़ल-पचासा
*(२३) सोमवती-माहात्म्य
(२४) व्याघ्र-वंशावली
(२५) कान्ह-वंशावली
(२६) मन-चेतावनी
(२७) श्यामालंकार
(२८) श्यामा-श्रृंगार
(२९) देव-कोश
(३०) वैद्य-सुधाकर
(३१) खेचर-चरित्र (ज्योतिष)
(३२) देव-स्वरोदय
*(३३) ज्ञान-प्रभाकर
(३४) ज्ञान-रत्नाकर

"इनमें * ऐसे चिह्न से चिह्नित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। शेष में से कुछ तो काशी, रामनगर, के मुंशीख़ाने में और कुछ घूमन (रियासत रीवाँ) के ठाकुर साहब के यहाँ पड़ी हैं। कुछ मेरे पास भी हैं। दुबारा लिखने के परिश्रम से बचने के कारण इन्हें मैंने अभी तक किसी प्रकाशक को नहीं भेजा। विना एक प्रति पास रक्खे, पुस्तक बाहर भेजने से खो जाने का डर रहता है। और बहुत-सी बातें हैं। पर विस्तार-भय से मैं उन्हें नहीं लिखना चाहता। शुभम्। आपका

बलदेवदास

(खटवारा)"

कविजी के विषय में लाला भवानीचरणजी ने जो कुछ लिखा है उसकी यहाँ समाप्ति हुई। सुनते हैं, कविजी के कोई संतान नहीं। ४ वर्ष हुए, उनकी स्त्री का भी देहांत हो गया। आप अपने घर में अकेले हैं। भगवद्भजन में अपना समय प्रायः व्यतीत करते हैं। कविजी पर लोगों की बड़ी श्रद्धा है। वे उन्हें भगतजी कहते हैं। उनकी रहन-सहन बहुत सीधी-सादी है। देखने में बहुत भोले-भाले मालूम होते हैं। परंतु उनके सत्संग और उनके साथ बातचीत करने से बड़ा आनंद आता है। वह आत्मज्ञानी और भावुक भक्त हैं। कविता करते उन्हें देर नहीं लगती।

लाला भवानीचरण से कविजी की प्रशंसा सुनकर हमने उनसे प्रार्थना की कि आप कविजी की कुछ पुस्तकें देखने के लिये भेज दीजिए। उत्तर में आपने तीन पुस्तकें भेजीं। एक ज्ञान-प्रभाकर, दूसरी हनूमान्-साठिका, तीसरी उक्ति-परीक्षा। पहली पुस्तक में परमार्थगीता, रामगीता, ब्रह्मगीता, रुद्रगीता आदि १२ गीताओं का सारांश अनेक छंदों में कविजी ने लिखा है। उसके अंत में बलदेवदासजी कहते हैं—

"कारण ते सूक्ष्म बिराट परयंत बिश्व
जेतो भेद जाग्रत औ स्वप्नहुँ सुषुप्ति को ;
जहाँ लौं कहिय सुनि देखिय गुनिय मन
कहाँ लौं कहौं प्रपंच जाहिर औ लुप्त को ।
तहाँ लौं बिचित्र चित्र प्राकृत समस्त जड़
गुप्त है चैतन्य करै प्रगट औ गुप्त को ;
जाहि 'बलदेव' मुनि ध्यावत परमहंस
हौं मैं अंश वंश सोई एक चित्रगुप्त को ।"

इससे पाठकों को मालूम हो जायगा कि इस पुस्तक में आपने कैसी कविता की है। इसका विषय वेदांत और ब्रह्मज्ञान होने के कारण कहीं-कहीं कविता में क्लिष्टता आ गई है सही, तथापि भाव समझ में आ जाता है।

दूसरी पुस्तक की कविता का एक नमूना देखिए—

"मेरुप्रभा तनु बिज्जुप्रभा पर कोटि प्रभाकर से मुख भ्राजै ;
वज्र भुजा नख तेज दिपै इक कंध गदा इक में ध्वज राजै ।
बाल लँगूर लसै नभ लौं मँड़रात चलै कटि-किंकिणि बाजै ;
जो बजरंग को ध्यान धरै 'बलदेव' कहै छण में डर भाजै ।"

तीसरी पुस्तक उक्ति-परीक्षा में कविजी ने पहले तो अपना वंश-वर्णन किया है, फिर अपना वर्णन। इसके अनंतर आपने १६२१ से १६४८ संवत् तक की समस्या-पूर्तियों का संग्रह प्रकाशित किया है। कविजी ने अपने विषय में जो कुछ लिखा है, उसकी नक़ल नीचे दी जाती है—

"वनइस सै बसु काँर सित जन्म हमारो जान ;
वनइस सै अरु बीस महँ हरियश कीन्ह बखान।
रामायण इक बाल किय बिदित भई यह बात ;
आए छीतूदास मोहिं देखन सहित जमात ।

उठत जात हिय ते कबित मैं सोइ लिखत समर्थ ;
कहि न सकौं तेहि भेद कछु नाम-भाव रस अर्थ ।
यहि लखि सब अचरज करत बाल-अवस्था जानि ;
अहहि पुरानी काव्य यह का जानै अज्ञानि ।
यक दिन मम कुल-वृद्ध यक कहन लगे हँसि मोहि ;
मम सनमुख कर पूर हम देत समस्या तोहि ।
तब मैं नहिं जानत रह्यों कहत समस्या काहि ;
काह देत धौं समुझि हिय हर्षि रह्यों मुख चाहि ।
वै जानें समुझ्यो न यह तब दीन्हों समुझाइ ;
कहत समस्या-वाक्य कछु दे तेहि पूर बनाइ ।
अस कहि बोले बचन यह पाँच चरण दुइ शीश ;
यहि दोहा को पूर करु जो पूरै जगदीश ।
अब यह कौतुक लखन को जुटि आयो सब गाँव ;
कागद मसियानी कलम माँगि दिए तेहि ठाँव ।
बैठ रह्यों मैं मौन, मोहि अर्थ परयो नहिं बूझि ;
लियो कलम कागद सकुचि भाव परेउ तब सूझि ।"

शिवनंदन बाबा नाम के एक सज्जन ने समस्या दी—"पाँच चरण दुइ शीश ।" इसकी पूर्ति बालक बलदेव ने इस प्रकार की—

"बसतु सदा बलदेव-उर रमासहित जगदीश ;
भृगुपद भूषण अष्टभुज पाँच चरण दुइ शीश ।"

अब आपकी कुछ अन्य समस्या-पूर्तियों की बानगी देख लीजिए। काशी-नरेश, ईश्वरीप्रसादनारायणसिंह, ने आपको समस्या दी—"दशरथ के लाल हैं ।" आपने इसकी पूर्ति की—

"देखि कहैं मिथिलापुर की सखि श्यामल रंग ए राम कृपाल हैं ;
गौर सुलक्षण लक्ष्मणजी मुखचंदु ह्वै भुज नैन बिशाल हैं ।
अंग सिंगार बिभूषण त्यों सिय योग्य चितै 'बलदेव' निहाल हैं ;

हाथन में धनु-बाण गहे समरत्थ दोऊ दशरत्थ के लाल हैं।"

राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद की समस्या थी—"केहि कारण दीप से कज्जल होत है।" इसकी पूर्ति देखिए—

"अंतर में तेहि है मलता अरु ऊपर निर्मल रूप उदोत है ;
बाति अधार कौ जारत नेह घटावत जौन बढ़ावत जोत है।
दाहत मित्र पतंगन को 'बलदेव' कहै कहँ लौं मति पोत है ;
लीलि अँध्यारी उहै उगिलै यहि कारण दीप से कज्जल होत है।"

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की समस्या थी—"कोटिन्ह दीप बरैं पै अँध्यार है।" इसकी पूर्ति—

"षोड़श पूरण चंद्र उगैं नभ कोटिन तारन को उजियार है ;
कोटिन ज्वाल मसाल जलैं बरु कोटिन शैल में लागै दवार है।
पै बिनु भानु न जाय निशा बलदेव तथा भ्रम जो न बिचार है ;
त्यों जेहि ज्ञान के नैन नहीं तेहि कोटिन दीप बरैं पै अँध्यार है।"

उक्ति-परीक्षा के अंत में कविजी ने कलिकाल का हाल इस प्रकार लिखा है—

"कठिन कराल कलिकाल को हवाल देखौ
चलत कुचाल देत औरन को सिच्छा हैं ;
बेस्यन को बिस्वा खेत भाँड़न को भाँड़ा देत
राँड़ को खराबन की पूर करैं इच्छा हैं।
आल्हा के गवैयन को हाजिर रुपैया रोज
साधुन गुनी को ज्वाब की तौ कछु भिच्छा हैं;
दंडिन, पखंडिन को देत मुँह-माँगो द्रव्य
हर्षि 'बलदेव' देत कबिन समिच्छा हैं।"

ऐसे कराल कलिकाल में बलदेवदासजी के सदृश भगवद्भक्त कवि का होना हम परमेश्वर की कृपा ही समझते हैं।

[मई १९१६

गंगा-पुस्तकमाला

हमारे यहाँ से इस नाम की एक ग्रंथमाला निकल रही है। हिंदी-संसार के दिग्गज विद्वानों तथा सुप्रसिद्ध समालोचकों ने इसकी खूब प्रशंसा की है। भाषा, भाव, संशोधन, संपादन, टाइप, काग़ज़, सुंदरता, छपाई-सफ़ाई और जिल्दबंदी आदि सभी बातों में इसकी प्रसिद्धि हो चुकी है। वर्तमान पुस्तक-मालाओं में इसका प्रचार भी सबसे अधिक है। थोड़े ही समय में इसके अधिकांश ग्रंथों के ३-३, ४-४ संस्करण हो चुके हैं। इसके स्थायी ग्राहकों को सब ग्रंथ पौने मूल्य में दिए जाते हैं। स्थायी ग्राहक बनने के लिये प्रवेश-फ़ी केवल ॥) देनी पड़ती है। माला की प्रकाशित पुस्तकों में से कुछ उत्कृष्ट पुस्तकें ये हैं—

हिंदी-नवरत्न (संशोधित और संवर्द्धित सचित्र द्वितीय संस्करण)—इस अद्वितीय आलोचनात्मक बृहद् ग्रंथ के लेखक हैं हिंदी के स्वनामधन्य सुलेखक, सुकवि तथा समालोचक श्रीयुत मिश्रबंधु। इसमें दो रंगीन और ६ सादे चित्र हैं। इस सुसंपादित एवं सुसज्जित नवीन संस्करण का मूल्य ५), पृष्ठ-संख्या ७०० के ऊपर रेशमी और सुनहली जिल्द बँधी हुई है।

प्रायश्चित्त-प्रहसन—बँगला के इसी नाम के प्रहसन के आधार पर इसे पं० रूपनारायणजी पांडेय ने लिखा है। पढ़कर हँसते-हँसते पेट में बल पड़ने लगेंगे। विदेशी चाल चलनेवालों का इसमें खूब ख़ाका खींचा गया है। मूल्य ।)

मूर्ख-मंडली—बँगला के सर्वश्रेष्ठ नाटककार श्रीयुत द्विजेंद्रलाल राय एम्० ए० के सुप्रसिद्ध प्रहसन "त्र्यहस्पर्श" के आधार पर,

हिंदी-रंग-मंच पर खेले जाने के योग्य बनाने के अभिप्राय से, बहुत कुछ फेर-फार करके, माधुरी-संपादक पं० रूपनारायणजी पांडेय कविरत्न ने इसे लिखा है। इसे पढ़कर हँसते-हँसते आप लोट-पोट हो जाइएगा। मूल्य ॥ॗ), सजिल्द १)

आत्मार्पण—एक ऐतिहासिक घटना के आधार पर सुकवि 'रसिकेंद्र'-रचित सुंदर खंड-काव्य। कविता बहुत ही ओजस्विनी, भाव-पूर्ण और हृदयग्राही है। मूल्य ।-)

पत्रांजलि—बँगला 'स्वामी-स्त्रीर-पत्र' का पंडित कात्यायनीदत्त त्रिवेदी-कृत हिंदी-रूपांतर। हमारी राय है कि प्रत्येक पढ़ी-लिखी नव-विवाहिता स्त्री इस पुस्तक को अवश्य पढ़े। मूल्य ॥)

मंजरी—अनुवादकर्ता हैं हिंदी के कवि-श्रेष्ठ पं० रूपनारायणजी पांडेय। रवींद्रनाथ ठाकुर आदि की श्रेष्ठ और चमत्कार-पूर्ण गल्पों का गुच्छा। गल्पें उच्च कोटि की हैं। मूल्य १ᰀ)

केशवचंद्र सेन—हिंदी के सुलेखक "एक भारतीय हृदय" द्वारा लिखित बंगाल के सुप्रसिद्ध समाज-सुधारक, ब्राह्म-धर्म के धुरंधर प्रचारक केशव बाबू की जीवनी। पढ़ने में उपन्यास का-सा मज़ा आता है। मूल्य १ᰀ)

बंकिमचंद्र चटर्जी—पं० रूपनारायणजी पांडेय ने अनेक पुस्तकों और पत्रों से सामग्री इकट्ठा करके भारत के सर्वश्रेष्ठ औपन्यासिक, साहित्य-सम्राट् स्वर्गीय बंकिम बाबू के इस जीवन-चरित को लिखा है। हिंदी में इस समय इसके मुक़ाबले के बहुत कम जीवन-चरित निकलेंगे। मूल्य १ᰀ)

पूर्व भारत—सुप्रसिद्ध सुलेखक मिश्रबंधु-लिखित। यह एक मौलिक नाटक है। इसमें पांडवों और कौरवों के झगड़े के आरंभ से लेकर पांडवों के अज्ञात-वास के अंत तक की कथा है। यह

नाटक पढ़ने से महाभारत के उस युग का दृश्य आँखों के आगे उपस्थित हो जाता है। मूल्य ॥=), सजिल्द १।)

इँगलैंड का इतिहास—इसके लेखक श्रीयुत प्राणनाथ विद्यालंकार एक सुप्रसिद्ध लेखक हैं। अनेक पुस्तकों की सहायता से विस्तार-पूर्वक यह इतिहास लिखा गया है। ऐतिहासिक ज्ञान के साथ ही उपन्यास पढ़ने का मज़ा आता है। मूल्य २), सजिल्द २॥)

नंदन-निकुंज—हिंदी के होनहार लेखक श्रीयुत चंडीप्रसादजी बी० ए० "हृदयेश"-लिखित। यह ९ मौलिक, उत्कृष्ट, हृदय-ग्राही, सरस कहानियों का संग्रह है। पुस्तक एक बार उठाकर आदि से अंत तक पढ़े विना छोड़ने को जी नहीं चाहता। मूल्य १।), जिल्ददार १॥=)

द्विजेंद्रलाल राय—डी० एल्० राय के नाटकों के हिंदी-अनुवाद बहुत ही लोक-प्रिय हुए हैं। उन्हीं का यह जीवन-चरित है। मूल्य ।)

सम्राट् चंद्रगुप्त—भारत के प्रथम ऐतिहासिक सम्राट् की यह संक्षिप्त, किंतु सर्वांग-पूर्ण, जीवनी बड़ी खोज के साथ लिखी गई है। इतिहास-प्रेमियों के पढ़ने की चीज़ है। मूल्य ।)

बहता हुआ फूल—अनुवादक, पं० रूपनारायणजी पांडेय। श्रीयुत चारुचंद्र बंद्योपाध्याय के "स्रोतेर फूल" नाम के श्रेष्ठ बँगला-उपन्यास का यह हिंदी-अनुवाद है। चरित्र-चित्रण जिस सुंदरता के साथ किया गया है, उसे देखकर आप मुग्ध हुए विना नहीं रह सकेंगे। उपन्यास रोचक और शिक्षाप्रद है। २), सुनहरी रेशमी जिल्द २॥)

भारत की विदुषी नारियाँ—इसमें वैदिक युग से लेकर वर्तमान युग तक की उर्वशी, मैत्रेयी, गार्गी, देवहूति, मंदालसा, आत्रेयी, लीलावती, विद्या, विदुला, मीराबाई आदि-आदि कोई ५० उन पतिव्रता नारियों के जीवन-चरित्र लिखे गए हैं, जो आजकल देवी-स्वरूप मानी जाती हैं, और जिनका परिचय पाकर स्त्रियाँ अपना जातीय गौरव प्राप्त कर सकती हैं। मूल्य ॥)

भारत-गीत—लेखक, कवि-सम्राट् पं० श्रीधर पाठक। पाठकजी हिंदी-कविता के आचार्य माने जाते हैं। आपने समय-समय पर देश-संबंधी जो उपयोगी और उत्तम कविताएँ लिखी हैं, उन्हीं का यह नयनाभिराम संग्रह है। मूल्य ॥≈), सजिल्द १)

उद्यान—लेखक, पं० शंकरराव जोशी, एग्रीकल्चर-ऑफ़िसर। पुस्तक में फल-फूल के वृक्षों, बेलों और बहारदार घासों के लगाने की विस्तृत विधि लिखी गई है। सरल भाषा में इस खूबी के साथ सब बातें समझाई गई हैं कि साधारण मनुष्य भी बिना किसी माली की सहायता के बाग़बानी के सब काम कर सकता है। पृष्ठ-संख्या २०४ और चित्र-संख्या २०; पर मूल्य सिर्फ़ ॥।≈), सजिल्द १।)

भूकंप—प्रणेता, बा० रामचंद्र वर्मा। भूकंप-संबंधी अनेक प्रश्नों के उत्तर बहुत ही मनोरंजक, कौतूहल-जनक, सीधे, सरल और सुस्पष्ट ढंग से इस सचित्र पुस्तक में संग्रह किए गए हैं। पढ़ने में तिलस्मी उपन्यास का-सा मज़ा आता है। मूल्य १≈)

प्रेम-प्रसून—लेखक, श्रीयुत प्रेमचंदजी। इनकी रचना जैसी स्वाभाविक, रोचक और भाव-पूर्ण होती है, वैसी ही शिक्षाप्रद, उत्साह-वर्धक तथा गंभीर भी। प्रेम-प्रसून इन्हीं की एक-से-एक बढ़कर अनूठी कहानियों का संग्रह है। अब तक इनके जितने गल्प-संग्रह छपे हैं, उनमें यह संग्रह सबसे बढ़कर है। मूल्य १।)

नारी-उपदेश—लेखक, स्व० गिरिजाकुमार घोष। इस पुस्तक में नारियों के जानने-योग्य बीसों उपदेश-प्रद विषयों का वर्णन बड़ी खूबी के साथ सरल भाषा में किया गया है। इस पुस्तक के पढ़ने से आपके घर की नारियाँ लक्ष्मी और घर स्वर्ग बन जायगा। टाइटिल पर माधुरी के सुप्रसिद्ध चित्रकार श्रीयुत काशिनाथ-गणेश खातू-रचित एक सुंदर चित्र है। मूल्य ॥)

भगिनी-भूषण—लेखक, स्व० बाबू गोपालनारायण सेन सिंह,

बी० ए० । लड़कियों के लिये यह पुस्तक अमूल्य है । इसमें कुमुद और किरण, शारदा और उसकी माँ, बड़ों की आज्ञा, लीला और सरोज—ये चार रोचक और मौलिक कहानियाँ दी हुई हैं । मूल्य =)

अयोध्यासिंहजी उपाध्याय—उपाध्यायजी के पवित्र जीवन का विस्तृत वर्णन । इसमें उपाध्यायजी के भिन्न-भिन्न अवस्था के दो चित्र भी हैं । मूल्य ।)

चित्रशाला—कहानियों के श्रेष्ठ लेखक पं० विश्वंभरनाथ शर्मा कौशिक को कौन नहीं जानता ? आपकी कहानियाँ पढ़ते-पढ़ते पाठक कभी करुणा से रोने लगते हैं, और कभी विनोद की गुदगुदी से हँसने लगते हैं । हाथ कंगन को आरसी क्या ? मूल्य १।॥) ; सुनहरी रेशमी जिल्ददार २।)

मनोविज्ञान—लेखक, पंडित चंद्रमौलि सुकुल एम्० ए०, एल्० टी० । प्रत्येक शिक्षक और छात्र के पास इस पुस्तक का एक प्रति अवश्य ही रहनी चाहिए । विषय गहन है, पर लेखन-शैली इतनी सरल और सरस है कि पुस्तक आरंभ करने पर विना समाप्त किए छोड़ने का जी नहीं चाहता । मनोरंजन और शिक्षा दोनों का उत्तम साधन है । मूल्य ।॥), सुनहरी रेशमी जिल्द १।)

रावबहादुर—फ़्रांस के सुप्रसिद्ध हास्यरस-लेखक मौलियर के सुविख्यात प्रहसन का यह भावमय अनुवाद है । अनुवादक हैं, हिंदी-संसार के प्रतिभाशाली लेखक पंडित लक्ष्मीप्रसाद पांडेय ! इस प्रहसन को पढ़कर आप हँसते-हँसते लोटपोट हो जाइएगा । भाव, भाषा, शैली, सबमें भारतीयता का समुचित समावेश हो जाने से पुस्तक की उपयोगिता बहुत बढ़ गई है । इसकी फड़कती हुई लोचदार भाषा में बड़ा मज़ा है । ऐसी शुद्ध विनोद-पूर्ण एवं सुरुचिवर्द्धक पुस्तक हिंदी में केवल एक-आध ही हैं । मू० ।॥), सुंदर रेशमी जिल्द १।)

नीचे-लिखी पुस्तकें छप रही हैं—

(१) **बिहारी-रत्नाकर** (बिहारी-सतसई पर अद्वितीय भाष्य)—यह सर्वांग-सुंदर विशाल ग्रंथ दिसंबर १९२४ तक तैयार होगा। मूल्य लगभग ५)

(२) **अद्भुत आलाप**—भूतपूर्व सरस्वती-संपादक, हिंदी-साहित्य-महारथी पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के अद्भुत चित्ताकर्षक लेखों का सुसंपादित संग्रह। मूल्य लगभग १)

(३) **विश्व-साहित्य**—वर्तमान सरस्वती-संपादक बख़्शीजी के गंभीर भाव-पूर्ण साहित्यिक लेखों का सुरुचि-पूर्ण संग्रह। मूल्य लगभग १)

(४) **भारतीय अर्थशास्त्र**—यदि आप भारतवर्ष की दयनीय दरिद्रता के मुख्य कारणों को जानना चाहते हैं, तो यह पुस्तक अवश्य पढ़िए। यह देश की सच्ची अवस्था का उज्ज्वल दर्पण है। मूल्य लगभग २)

(५) **दुर्गावती**—लखनऊ-युनिवर्सिटी के हिंदी-लेकचरार पं० बदरीनाथ भट्ट बी० ए०-लिखित एक मौलिक ऐतिहासिक नाटक। बस एक ही चीज़ है। मुहावरेदार भाषा, गद्य-पद्यमयी ललित रचना और एक भारतीय क्षत्राणी की अद्भुत वीरता—तीनों विशेषताओं का अपूर्व सम्मिश्रण है। मूल्य लगभग ।।।)

हमारे यहाँ हिंदुस्थान-भर की हिंदी-पुस्तकें मिलती हैं। उन पर स्थायी ग्राहकों को –) रुपया कमीशन मिलता है।

संचालक गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय

२९-३०, अमीनाबाद-पार्क, लखनऊ